साहित्य क्या है ?

कबिता के विषय में जानने के पूर्व हम साहित्य और साहित्य की परिधि के विषय में जान लेना चाहेंगे। साहित्य 'सहित' से बना है। 'सहित' शब्द का अर्थ है 'साथ' अर्थात् साहित्य का तात्पर्य है सहभाव या साथ रहना। यह सहभाव किसका ? स्वभाविक उत्तर है—शब्द और अर्थ का। सहभाव को सम्पृक्ति या सहयोग भी कह सकते हैं। अर्द्धनारीश्वर शिव और पार्वती की सम्पृक्ति रूप के समान ही महाकवि कालिदास शब्द और अर्थ की सम्पृक्ति मानते हैं :

> वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।[1]
> जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ॥

गोस्वामी तुलसीदास ने इसी सम्पृक्ति को जल और वीचि (तरंग) की सम्पृक्ति में देखा है :

> गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।

साहित्य के विभिन्न प्रकार से सन्धि विच्छेद कर हम विभिन्न अर्थ निकालते हैं। जैसे :

(१) वह बन्ध अथवा वाक्य जिसके द्वारा हित अथवा कल्याण हो।

(२) वह रचना जिसके द्वारा सम्यक हित अथवा पूर्ण हित हो।

(३) वह रचना जो शब्द और अर्थ को धारण कर अनेक विधि से उनका पोषण करती है।

(४) वह रचना जो शब्द के माध्यम से कवि के अर्थ को सहृदय व्यक्तियों के मन में निहित कर देती है और वह अर्थ वहाँ इसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार अँगूठी में जड़ा नग।

---

१ रघुवंश–मंगलाचरण—कालिदास

(५) वह कृति जो कवि के अर्थ को पाठक, भावुक अथवा सामाजिक के हृदय तक आगे बढ़ा उसके हृदय को उत्तेजित कर प्रसन्न करती है।

यदि उक्त सभी अर्थों को दृष्टि में रख कर हम विचार करें तो देखेंगे ये सभी तथ्य साहित्य में व्याप्त है, समाविष्ट है। अतएव पूर्णतया साहित्य शब्द के परिचायक हैं।

साहित्य की परिभाषा कतिपय विद्वानों ने इस प्रकार की है :

साहित्यं मनयो: शोभाशालितां प्रतिकाव्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वम मनोहारिण्य वस्थिति: ॥

—कुन्तक

अर्थात शब्द और अर्थ का जो अनिवर्चनीय शोभाशाली सम्मेलन होता है वही साहित्य है और शब्दार्थ का यह सम्मेलन या विचित्र विन्यास तभी सम्भव हो सकता है जबकि कवि अपनी प्रतिभा से जहाँ जो शब्द उपयुक्त हो वही रख कर अपनी रचना रुचिकर बनाता है।

अज्ञात पाण्डित्य रहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम्।
ते गारुडीयाननधीत्य मन्त्रान् हालाहला स्वादन मारभन्ते ॥

—मंखक (श्रीकण्ठ चरित)

अर्थात पाण्डित्य के रहस्यों, ज्ञातव्य प्रच्छन्न विषयों की बारीकी बिना जाने-सुने जो काव्य करने का अभिमान करते हैं वे सर्पविनाशक मन्त्रों को न जान कर हलाहल विष चखना चाहते हैं।

आचार्य क्षेमेंद्र--सुलंकृत और शब्दार्थयुक्त साहित्य काव्य है (सुवृत्त तिलक)

साहित्य मीमांसाकार-रुय्यक—कुन्तक के अनुसार विवक्षाप्य-परिष्कार ही साहित्य है। हम तो शब्दार्थ के सम्मिलन मात्र उक्तियों को साहित्य समझते हैं यथा शास्त्राख्यान। किन्तु हम साहित्य के परिष्कार को विशेष काव्य मानते हैं।

शब्द-कल्पद्रुम--मनुष्यकृत श्लोकमय ग्रन्थ-विशेष को ही साहित्य अथवा काव्य कहते हैं।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर--साहित्य शब्द से साहित्य में मिलने का

एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव भाव का, भाषा भाषा का, ग्रन्थ ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है; बल्कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरंग मिलन भी है जो साहित्य के अतिरिक्त अन्य से सम्भव नहीं है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—"साहित्य के शास्त्र पक्ष की प्रतिष्ठा काव्य चर्चा की सुगमता के लिये माननी चाहिये, रचना के प्रतिबन्ध के लिये नहीं।"

शब्द आकाश का गुण है जिसकी प्रतीति कान के माध्यम से होती है। शब्द के पर्याय हैं स्वर, ध्वनि, आवाज, । संगीत में स्वर का प्रयोग होता है, साहित्य में स्वर के साथ व्यंजन का भी। क्योंकि इसी कारण अर्थ की अभिव्यंजना होती है। 'अर्थ से तात्पर्य है मिलना, उत्तेजित करना, पहुँचना, रोपना, सौपना आदि। आधुनिक मनोविज्ञान का एक सिद्धान्त है कि वाह्य-वस्तुयें ज्ञान संवाहिका नाड़ियों द्वारा अपनी उर्मियों को मन तक पहुँचाती हैं और मन अपने संचित ज्ञान में उन उर्मियों को स्थान देता है। इसी प्रकार कवि भी शब्दार्थ अभिधा शक्ति के द्वारा अपने अर्थ को अर्थात् अपने विचार भाव एवं स्वप्नात्मक आह्लाद को सहृदय तक पहुँचा देता है। यदि कवि कुशल होता है तो शब्दार्थ की सम्पृक्ति यथातथ्य होती है। **राजशेखर** ने काव्य मीमांसा में लिखा है—"शब्दार्थयोर्यथावत् सह भावेन विद्या साहित्यविधा।"

भर्तृहरि ने साहित्य को संगीत और कला के साथ स्थान दिया है, पाश्चात्य विद्वानों ने Literature और Poetry में भेद नहीं माना है और अधिकांश प्राच्य आचार्यों ने भी साहित्य का समावेश काव्य में कर दिया है। इस प्रकार कालान्तर में साहित्य शब्द काव्य का पर्यायवाची बन गया। आस्वादन के योग्य रस और मनन के योग्य सत्य साहित्य के साधारण धर्म हैं जिनकी उपलब्धि सभी देशों के वाङ्मय में होती है। इसमें जो शाश्वत सौन्दर्य और अनिवर्चनीय आनन्द मिलता है वह काल, देश विशेष, जाति और समाज विशेष की सम्पत्ति नहीं। साहित्य शब्द का प्रयोग मुख्यतः दो अर्थ में होता है :

१. विविध विषयों के ग्रन्थ-समूह Literature, (२) काव्य। समस्त वाङ्मय में सत्यं शिवं सुन्दरम् युगपत किन्तु न्यूनाधिक रहता है। वाङ्मय का ही दूसरा नाम साहित्य है। अशिव वाङ्मय अभीष्ट नहीं, मात्र कल्याणकारी

वाङ्मय ही साहित्य कहला सकता है। सभी काव्य साहित्य है, लेकिन सभी साहित्य काव्य नहीं—क्योंकि काव्य साहित्य के अन्तर्गत हैं। अश्लील एवं अशिव काव्य साहित्य की परिधि के अन्तर्गत नहीं। भामह ने साहित्य का बड़ा ही विस्तृत क्षेत्र बताया है :

न स शब्दो न तद्वाच्यं न तच्छास्त्रं न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्ग महो भारः महान कवोः।

अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं, अर्थ नहीं, विद्या नहीं, शास्त्र नहीं, कला नहीं जो किसी न किसी प्रकार इस 'काव्यात्मक' साहित्य का अग न हो।

डा० गुलाबराय—साहित्य की विवेचना करते हुये कहते हैं—"साहित्य संसार के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात् विचारों, भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और वह हमारे किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है।" साहित्य में सम्प्रेषणीयता और अनुभूति का होना आवश्यक है। Time table, Advertisements, सूचीपत्र सभा के नियम-उपनियम आदि ना ही साहित्य है न काव्य, क्योंकि उनमें अनुभूति और हृदयस्पर्शिता का अभाव है। साहित्य में संवेदना, सुरुचि, सन्तुलन वर्णन-वैचित्र्य होना चाहिये। सीमा से मुक्त होते हुये भी साहित्य के विस्तार की परिधि निश्चित होनी चाहिये। इस कथन की पुष्टि में मैं डॉ० रामकुमार वर्मा वर्मा के शब्दों को दुहराना चाहूँगा। कहते हैं वह "साहित्य के विस्तार पर विचार करते समय इस सत्य को हृदयंगम करने की आवश्यकता है कि साहित्य प्रतिक्षण जीवन की सीमाओं को तोड़ कर उसे असीम बनाने में प्रयत्नशील है। साहित्य में न तो देश, काल की सीमा है और न वस्तु-जगत की ही कोई संकीर्ण परिधि। जीवन की वास्तविकता अपने यथार्थ रूप में अत्यन्त सीमित है।"[१] आगे वह पुनः कहते हैं : "जिस प्रकार अनादि और अनन्त ब्रह्म 'नेति-नेति' होकर भी अवतारों में सीमित हो जाता है उसी प्रकार साहित्य भी अपनी व्यंजना में विश्वजनीन होकर किन्हीं मर्यादित क्षेत्रों में अवतरित हो जाता है। साहित्य मानवता का

---

१ अनुशीलन डा० रामकुमार वर्मा पृष्ठ ६

केन्द्र मानकर जब अपनी परिधि खींचता है तो वह परिधि क्षितिज की परिधि से बड़ी होकर भी ग्रह कक्षाओं की भाँति अपनी प्रगतिशीलता में अविचल रहती है।[1]

साहित्य में उदात्त दृष्टिकोण ही सब कुछ है जिसके समक्ष श्रेय और प्रेय अपनी परिस्थतिगत सीमाओं का निर्धारण करते हैं। साहित्य के विस्तार की जितनी भी संभावनायें हैं इनमें अनुभूतियाँ प्रधान हैं। ये अनुभूतियाँ अपने संस्कारों के अनुसार विविध शैलियां ग्रहण करती है चाहे वह कविता हो, नाटक हो, कहानी या उपन्यास हो। साहित्य की विशिष्ट संवेदानायें अपने अभिव्यक्तीकरण में विशाल साहित्यिक रूपों का निर्माण करती है जिनमें काव्य नाटकादि रूप परिगणित किये जा सकते है। इस संदर्भ में यह बात भी विचारणीय है कि साहित्य के विविध पार्श्वों का प्रभावपूर्ण चित्रण किसी एक ही शैली में होना संभव नहीं। भाव पक्ष, जिज्ञासा पक्ष, अनुरंजन पक्ष, विवेचन पक्ष जब अपनी एक भव्य प्रमुख अनुभूतियों में अवतरित होना चाहता है तो वे निर्धारित रूप में अवतरित हो अनिश्चित संज्ञा से ही अभिहित किये जावगे जैसे काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि। लेकिन यह भी पूर्ण सत्य है कि इन सभी रूपों में साहित्य की श्री सूक्ष्म होते हुये भी पवित्र और प्रभावोत्पादक रहेगी।

---

१ अनुशीलनः डा० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ १६

कविता क्या है ?

मनुष्य कविता से परिचित कब हुआ इसके विषय में इतिहास मौन है। अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि जब से मनुष्य का सौन्दर्य से परिचय हुआ, वह भाषा का प्रयोग करने लगा, छन्दोमयी वाणी उसके आस-पास फटकने लगी। प्राकृतिक दृश्यों और जीवन के सुख-दुःख मूलक उद्वेलनों ने उसकी वाणी को छन्दों विधान की प्रेरणा दी। लयात्मक स्थिति गायन में ही नहीं रोदन में भी होती है। लय के अनुसंधान से छन्दों का निर्माण हुआ। छन्द ने भाषा का गद्य में विभाजन किया। आदिकवि वाल्मीकि की छन्दोबद्ध वाणी के प्रस्फुटन में शोक संवेदना मूलक भावना ही है :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

—वाल्मीकि रामायण

यही नहीं महाकवि कालिदास ने भी छन्दोमयी वाणी के मूल में शोक को ही माना है :

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डज दर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

—रघुवंश

पश्चिम में भी कविता की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार पर कुहासा छाया हुआ है और जो विचार मिलते भी हैं वे अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्लेटो ने जब काव्य के मूल में अनुकृतिवाद का सिद्धान्त स्थिर किया था तो उसके हृदय के किसी कोने में संवेदनाजन्य भावात्मक प्रेरणा का परिचय अवश्य था अन्यथा उसने कला को मनोवृत्तियों का पाशविक संचरण न कहा होता। प्लेटो ने कला को जो प्रकृति की अनुकृति की भी अनुकृत्ति कहा वह उसका लक्षण करने के लिए नहीं बल्कि उसे अनुपयोगी सिद्ध करने के लिए। लेकिन इस कन्डेमनेशन को उनके शिष्य अरस्तू ने मसीहावाक्य मानकर काव्योत्पत्ति का

एक सिद्धान्त बना दिया। अरस्तू के समय तक भारत में प्रेरणावाद का परिणाम इस सिद्धान्त के रूप में निश्चित हो चुका था। भरतमुनि का नाट्य शास्त्र अरस्तू के 'पेरि पोइत केस' लगभग समकालीन है।

पश्चिमी और पूर्वी दृष्टिकोण में कविता के विषय में कुछ और भी बड़ा अन्तर है। प्राच्य विद्वानों की दृष्टि में काव्य का प्रयोजन है—धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि विवर्द्धन, लोक-व्यवहार, अर्थ, काम, मोक्ष, कलानैपुण्य, प्रीति, शिवेत रक्षति, आप्तकामता, कान्ता सम्मित, उपदेश और असाधारण आनन्द। इसके विपरीत पाश्चात्य विद्वान काव्य को कला मानते हैं। काव्य का कला के रूप में नौ मुख्य प्रयोजन हैं :

(१) कला कला के लिये

(२) कला जीवन के लिये

(३) कला जीवन से पलायन के लिये

(४) कला जीवन में प्रवेश के लिये

(५) कला सेवा के लिये

(६) कला आत्मानुभूति के लिये

(७) कला विनोद के लिये

(८) कला सर्जन की अदम्य आवश्यकता की पूर्ति के लिये

(९) कला आनन्द के लिये।

काव्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की वृद्धि रस, अलंकार और छन्द के प्रयोग से ही होती है अतएव रस, छन्द, अलंकार के विषय में जानने के पहले हमें काव्य क्या है समझ लेना चाहिये।

काव्य क्या है? इसके सर्वमान्य लक्षण कौन हैं? इस विषय में प्रमुख विद्वान एक मत नहीं हो सके हैं किन्तु विद्वानों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—(१) भारतीय आचार्य वर्ग, (२) पाश्चात्य आचार्य वर्ग। नीचे दोनों वर्गों के विद्वानों द्वारा मान्य परिभाषायें दी जाती हैं :

भारतीय आचार्य वर्ग (संस्कृत)

वेदों में—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भुः" माना है अर्थात् भगवान ही कवि है एवं वेद-वाक्य।

अग्निपुराण के अनुसार—"संक्षिप्त वाक्य, इष्ट अर्थ के संपन्न पदावली सुन्दर अलंकार से समन्वित गुणयुक्त तथा दोषरहित वाक्य को काव्य कहते हैं।"[1]

आचार्य भरतमुनि—शुभकाव्य की सात बातें होती हैं—मृदुललित पदावली, गूढ़ शब्दार्थ हीनता, सर्व सुगमता, युक्तिमत्ता, नृत्य में उपयोग किये जाने की योग्यता, इसके अनेक स्रोतों को बहाने का गुण और संधियुक्तता।[2]

आचार्य दण्डी—अभीष्ट अर्थ से सम्पृक्त पदावली को काव्य कहते हैं।[3]

आचार्य रुद्रट—शब्द और अर्थ दोनो ही काव्य है।[4]

वाणभट्ट—इन्हों ने वामन और मम्मट के मतों का समन्वय कर दिया है और इस प्रकार नया लक्षण प्रस्तुत किया है—"अलंकार रीति रस से युक्त तथा दोष रहित अच्छे शब्दार्थों के समूह को काव्य कहना चाहिए।"[5]

---

१. संक्षेपाद वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्नापदावली।
काव्यं स्फुटदलंकार गुणदोषवर्जितम्॥

२. मृदुललित पदाढ्य गूढ़शब्दार्थ हीनं, जनपद सुख बोध्यं, युक्ति मन्नृत्य योज्यम्, बहुकृत रसमार्ग, संन्धिसंधानयुक्तं, हभवति शुभकाव्य नाटक प्रेक्षकाणाम्
—नाटयशास्त्र

३. शरीरं तावदिष्टार्थ यवच्छिन्ना पदावली—काव्यादर्श

४. ननुशब्दार्थौ काव्यम्—काव्यालंकार

५. गुणालंकार रीति रसोपेत

जयदेव—निर्दोष, गुणपूर्ण, अलंकृत मनोहर अर्थ समन्वित वाक्य को काव्य कहते हैं।[१]

आचार्य कुन्तक—काव्य वह परस्पर सम्बद्ध शब्दार्थ है जो वक्र व्यापार से युक्त तथा विदग्धों से आह्लाद देने वाला है। 'वक्रोक्ति' काव्यः जीवितम' कह कर वह काव्य की आत्मा वक्रोक्ति हैं मानते है।[२]

आचार्य मम्मट—"दोषरहित, गुणयुक्त और अर्थंकार पूर्ण रचनों को काव्य कहते है।"[३]

आचार्य भामह—"शब्द और अर्थ से युक्त पद को काव्य कहते हैं।"[४]

पंडितराज जगन्नाथ—"रमणीय अर्थों के प्रतिपादन करने वाले शब्दों को काव्य कहते है"[५]

आचार्य विश्वाथ मिश्र—"रसात्मक वाक्य ही काव्य है"[६]

आचार्य भोजदेव—"रस से युक्त, अलकारों से अलंकृत गुण सम्पन्न और सर्व दोष विवर्जित जो कवि कर्म है उसे काव्य कहते है"[७]

आचार्य वामन—"काव्य की आत्मा रीति है।"[८]

---

१. निर्दोषा लक्षणवती सरीति गुण भूपिता।
सालंकार रसानेक वृत्तिवाक् काव्य नामभाव।

—चन्द्रालोक

२. शब्दार्थो सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद कारिणि।

—वक्रोक्तिजीवितम्

३. तद्दोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृतीपुन क्वापि।

४. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं।

५. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्यम्! —रस गंगाधर

६. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् साहित्य दर्पण

७. रसान्वितमलंकारैलंकृतं निर्दोष गुणवत्कवेः कर्मकाव्यमित्याह कंठाभरण।

—सरस्वती

८, रीतिरात्मा काव्यस्य काव्यालंकार सूत्रवृत्ति।

आचार्य आनन्दवर्द्धन—"काव्य की आतमा ध्वनि है। काव्य का शरीर शब्दार्थ।[१]

इस प्रकार संस्कृत आचार्यों के उपर्युक्त मतों द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों के प्रमुख है रुद्रट, उद्भट रीति को काव्य की आत्मा मानने वालों में वामन, ध्वनि को आनन्दवर्द्धन, वक्रोक्ति को कुन्तक और रस को काव्य की आत्मा मानने वालों में प्रमुख आचार्य हैं अभिनव गुप्त और विश्वनाथ। भट्टनायक भोग को और क्षेमेन्द्र औचित्य को काव्य की आत्मा मानते हैं।

जिस प्रकार भारतीय दर्शन की छः शाखायें हैं-जो तत्व का निरूपण विभिन्न दृष्टि कोणों से करती है उसी प्रकार काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में भी भिन्न रूचिर्हि लोकः के अनुसार विभिन्न धारणाएँ हैं। डाक्टर गुलाबराय ने इन सारे विचारों का समन्वय करके उचित ही कहा है—"दण्डी मम्मटादि ने पत्ते और शाखाओं को सींचने की और तुलसीदास के शब्दों में 'बरी बरी में लोन' देने की कोशिश की है, वहाँ विश्वनाथ ने जड़ सींचा है। गुण, अलंकारादि सभी रस के पोषक है। वाक्य में, शब्द के साथ अर्थ भी शामिल हो जाता है: क्योंकि सार्थक शब्द ही वाक्य बन जाता है। इनके रसात्मक शब्द में काव्य का अनुभूति पक्ष या भावपक्ष आ गया और वाक्य शब्द में अभिव्यक्ति पक्ष अथवा कला पक्ष आ गया। इस परिभाषा में केवल यह दोष बताया जाता है कि रस की परिभाषा अपेक्षित रहती है, किन्तु मोटे तौर से सब लोग जानते हैं कि रस क्या चीज है? वैसे तो 'गुण' और 'दोष' शब्द भी व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं।"[२]

भारतीय आचार्य [हिन्दी]

हिन्दी के आचार्यों और कवियों ने प्रायः संस्कृत के आचार्यों का ही अनुसरण किया है; लेकिन उनमें वह सूक्ष्मदर्शिता नहीं है। अलबत्ता हिन्दी में लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुस्तीकरण में जो कौशल प्रदर्शित है वह प्रशंसनीय है। अलंकारों और नायक-नायिका भेद का विवेचन भी सुन्दर हुआ है। नीचे कतिपय काव्य शास्त्रियों द्वारा दी गयी परिभाषायें प्रस्तुत हैं :

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनि ...... शब्दार्थ शरीर तावतकाव्य ध्वन्यात्लोक।

२. सिद्धान्त और अध्ययन—गुलाबराय पृष्ठ ४८

केशव

जद्यपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिना य सोहई, कविता, वनिता मित्त ।।

चिन्तामणि

छन्द निबद्ध सुपद्य कहि गद्य होत बिन छन्द ।
भाषा छन्द निबद्ध सुनि, सुकवि होत सानन्द ।।
सगुना लंकार न सहित दोषरहित जो होइ ।
शब्द अर्थ ताको कवित, कहत विबुध सबकोइ ।।

—कवि कुलकल्पतरु

सूरति मिश्र

बरनन मनरंजन जहाँ, रीति अलौकिक होइ ।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिंहि, काव्य कहत सब कोइ ।।

—काव्य-सिद्धान्त

कुलपति

जग तें अद्भुत सुख सदन, शब्दरु अर्थ कवित्त ।
यह लच्छन मैंने कियो, समुझि ग्रन्थ बहु चित्त ।।

—रस-रहस्य

देव

शब्द सुमति मुख ते कढ़ै, लै पद वचननि अर्थ ।
छन्द भाव भूषण सरस, सो कहि काव्य समर्थ ।।
काव्य सार शब्दार्थ को, रस तेहि काव्य-सुसार ।

—शब्द रसायन

श्रीपति

शब्द अर्थ बिन दोष गुन, अलंकार रसवान ।
ताको काव्य बखानिये, श्रीपति परम सुजान ।।

—काव्य सरोज

सोमनाथ

सगुन पदारथ दोष बिनु, पिंगल मत अविरुद्ध ।
भूषण जुत कवि कर्म जो, सो कवित्त कहि सुद्ध ।।

—रस पीयूषनिधि

भिखारीदास

रस कविता को अंग, भूषन है भूषन सकल।
गुन सरूप औरंग, दूषन करै कुरुपता ॥

—काव्यनिर्णय

प्रतापसाहि

व्यंग जीवन कहि कवित्त को, हृदय सो धुनि पहिचानि।
शब्द अर्थ कहि देह पुनि भूपन भूपन कहि जानि ॥

—काव्य-विलास

डा० श्यामसुन्दरदास—यद्यपि गद्य के ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जो अलंकार और कल्पना के चमत्कार में उत्कृष्ट पद्य से कम नहीं और पद्य के भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनकी सरल निरलंकार स्वाभाविकता गद्यवत भासित होती है तथापि पद्य में संगीत कला की छाया अधिक स्पष्ट और प्रभाव शाली देख पड़ती है, कल्पना का अधिक अनिवार्य रूप देख पड़ता है और उसकी रसमयता भी अधिक बलवती समझ पड़ती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है उसे काव्य कहते हैं।" अथवा "जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तुत या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे वह है काव्य।"[1]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी—"ज्ञान राशि के संचित कोप को काव्य या साहित्य कहते हैं।

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है; अमूल्य आत्मारस है मनोहरे।
शरीर तेरा शब्द मात्र है, नितान्त निष्कर्ष यही यही ॥

जयशंकर प्रसाद—"काव्य आत्मा की संकलपात्मक अनुभूति है जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह तो श्रेयमयी प्रिय रचनात्मक ज्ञानधारणा है।

---

१. चिन्तामणि (प्रथम भाग) मचन्द्रल-शुक्रा

महादेवी वर्मा—"कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनायें किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जाती है।"

सुमित्रानन्दन पन्त—"कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। कविता हमारे प्राण की संगीत है छन्द हृत्कम्पन-छन्द कविता का स्वभाव ही है"।

पं० रामदहिन मिश्र—"सहृदयों के हृदयों की आह्लादिक रुचिर रचना काव्य है।

साहित्य महोपाध्याय रामबहोरी शुक्ल—"सरल और सरस शब्दों में युक्त, मन को मुग्ध करने वाले ऐसे उच्च भावों को कविता कहते है जिनसे हमारे विचार, दशा वा काल की सीमा को लाँघ कर सृष्टि के सभी पदार्थों से मानसिक एकता का अनुभव करने लगे।"[१]

डाक्टर कृष्णबिहारी मिश्र—गुणाधिक्य अलंकार बाहुल्य, रस परिपाक एवं भाव चमत्कार कविता की उत्तमता की कसौटी रहनी चाहिये।

प्रेमचन्द—काव्य जीवन की आलोचना है।

डाक्टर गुलाबराय—काव्य संसार के प्रति कवि की भाव प्रधान (किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त) मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के ढाँचे में ढली हुयी श्रेय की प्रेयरूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।

डाक्टर रामकुमार वर्मा—कविता साहित्य की आदि-शक्ति है। आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है।

पाश्चात्य आचार्य

महान विचारक अरस्तू—(Aristotle)—"Poetry is to be defined as an art, the fundamental principle of which is imitation, that imitation being through the medium of language." अर्थात् काव्य वह कला है जिसका आधारभूत सिद्धान्त भाषा के माध्यम से किया हुआ अनुकरण है।

---

१ काव्य प्रदीप, राम बहोरी शुक्ल।

१. सेन्ट आगस्टाइनस—सभी जानते हैं कि कविता क्या होती है यदि आप मुझसे पूछे तो मैं कहूँगा कि मैं उसे जानता हूँ, किन्तु यदि आप पूछें तो मैं नहीं बता सकता।" आगस्टाइन की इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि काव्य की परिभाषा अकथनीय है।

नाटककार एव कवि शेक्सपियर

"An imagination bodies forth,
The form of things unknown the poet's pen,
Turns them to shapes and gives to airy nothings,
A local habitation and a name".

अर्थात् कवि को लेखनी कल्पना की सहायता से अज्ञात पदार्थों एवं वायवी अनस्तित्वों को मूर्तरूप करके जो नाम एवं ग्राम प्रदान करती है उसी कल्पना की अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं।

सर फिलिप सिडनी—"Poetry is an art of imitation to speak metaphorically a speaking picture with this end to teach and delight." अर्थात् काव्य अनुकरण की कला है जिसे अलंकृत भाषा में बोलता हुआ चित्र कह सकते हैं और जिसका उद्देश्य है सिखाना और प्रसन्न करना।

कॉलरिज—"Poetry the best words in best order." अर्थात् उत्तम शब्दों की उत्तम रचना।

वर्ड्सवर्थ—"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotion recollected in tranquility". अर्थात् उत्कट भावना का सहजोद्रेक काव्य हैं जो शान्ति के समय स्मृत मनोवेग से जन्म लेता है।

अथवा

Poetry takes its origin from emotion recollected in tranquillty. अर्थात् समय-समय पर मन में जो भाव संगृहीत होता है वही किसी विशेष अवसर पर जब प्रकाश में आता है तब वही कविता का रूप

धारण कर लेता है।

महाकवि मिल्टन—"Poetry should be simple sensureus and impassioned". अर्थात् कविता को सुगम-सुबोध, प्रत्यक्षमूलक एवं रागात्मक होना चाहिये।

सैमुअल जानसन—"Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason".अर्थात् काव्य आनन्द और सत्य को मिलाने या जोड़ने की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिये कल्पना का आश्रय लेना आवश्यक है।

पी० बी० शेली—"Poetry in a general sense may be defined to be the expression of the imagination. Poetry is ever accompanied with pleasure". अर्थात् कल्पना की अभिव्यक्ति ही काव्य है जिसका सुख से अविच्छन्न रूप से सम्बन्ध है।

P. B. Shelly ने एक और स्थान पर लिखा है कि "Poetry is the record of the best and happiest. moments of the happiest and best minds". अर्थात् कविता सर्वमुखी और सर्वोत्तम हृदयों के सर्वोत्तम और सर्व सुख-पूर्ण क्षणों का लेखा-जोखा है।

ले हन्ट (Leigh Hunt)—"Poetry is the utterance of a passion for truth, beauty and power, embo ying and illustrating its conception by imagination and fancy and modulating its language on the principle of vanity in unity."

अर्थात् जिसमें सौन्दर्य, सत्य और शक्ति के लिये तृष्णा का कथन हो, जिसमें कल्पनामय चित्रण और भाषा में एकता में विविधता के सामंजस्य की विशेषता का समावेश हो।

यह परिभाषा जटिल और कुछ बड़ी है, साथ ही भाषा के सम्बन्ध में भी उक्ति अस्पष्ट और उलझी हुई है।

मैथ्यू ऑरनाल्ड—"It is Simply most delightful and perfect form of utterance that human words can reach. It is nothing less than the most perfect speech of man that in which he comes nearest to being able to utter the truth. It is a criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of of poetic truth and poetic beauty."

अर्थात्

काव्य तो उक्ति अपूर्ण एवं अधिकतम आनन्दप्रद रूप है जिसे मानव शब्द प्राप्त कर सकते हैं। यह मनुष्य की पूर्णतम वाणी से तनिक भी कम नहीं। यह वह है जिसमें मनुष्य सत्य का कथन करने के लिए अधिकतम निकट आ सकता है। यह जीवन की आलोचना है—ऐसी आलोचना जिसके आधार है—काव्य सत्य और काव्य सौन्दर्य के नियम।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका—"Poetry—art, work of the Poet". अर्थात् कवि का कार्य ही कला और काव्य है।

कवि के माध्यम से कविता की परिभाषा अस्पष्ट और अनुचित है।

पाश्चात्य अधिकांश मनीषी विचारकों ने कविता को कला के ही रूप में देखा है, कला जो केवल चमत्कारिका के संकीर्ण अर्थ में न होकर व्यापक अर्थ में देखो गयी है। चैम्बर्स कोश में दी गयी कविता की परिभाषा अपने में एक ढंग से बड़ी पूर्ण परिभाषा है जिसमें काव्य के समस्त तत्व जैसे संगीतात्मकता, अभिव्यंजना कौशल, कल्पना, अनुभूति तथा विचारतत्व की आवश्यकता का उल्लेख है।

Chambers Dictionary—"Poetry is the art of expressing in melodious words, thoughts which are the creations of imagination and feelings".

अर्थात् कल्पना और और अनुभूति से उत्पन्न विचारों को मधुर शब्दों में अभिव्यक्त करने की कला ही कविता है।

विन्चेस्टर—इनके मत से काव्य की सृष्टि ४ मूल तत्वों से होती है।

(i) Emotional Element अर्थात् भावात्मक तत्व जिसके अन्तर्गत रस आता है।

(ii) Intellectual Element अर्थात् बुद्धितत्व जिसके अन्तर्गत विचार की प्रधानता है।

(iii) Imagination अर्थात् कल्पना।

(iv) Formal Elements अर्थात् काव्याङ्ग जिसके अन्तर्गत भाषा, शैली, गुण और अलंकार आदि आते हैं।

अल्फ्रेडलायल—"Poetry is the most intense expression of the dominant emotions and the higher ideas of the age".अर्थात् किसी युग के उच्चतर विचारों और शास्ता मनोभावों की गूढ़ अभिव्यक्ति अथवा प्रभावोत्पादक ढंग से प्रकट कर देना ही कविता है।

ऑनस्टुअर्ट मिल—"What is poetry but the thought and wards in which emotion spontaneously embodies itself." अर्थात् कविता क्या है? वह तो केवल वे विचार उमेह शब्द हैं, जिनमें भाव स्वतः मूर्तिमान है।

मैकाले—"By poetry we mean the art of employing words insuch a manner as to produce on illusion on the imagination, the art of doing by means of words what the painter does by means. of colours." अर्थात् काव्य से तात्पर्य उस कला से है, जो शब्दों का प्रयोग इस प्रकार करती है जिससे कल्पना पर भ्रान्ति का आरोप हो जाय, अर्थात् यह कला शब्दों के माध्यम से वही कार्य करती है जिसे चित्रकार रंगों और कूँची के माध्यम से करता है।

टामस कार्लायल—Poetry is a musical thought अर्थात् कविता संगीतमय विचार है। (Heroes and Heroworship)

विलियम हेज़लिट—"Poetry the language of the

imaginations and passions"—Lectures on the English Poets—अर्थात् काव्य भाव और कल्पना की भाषा है।

सैमुअल टेलर कॉलरिज—Poetry is the antithesis of Science having first immedeate object pleasure not firsts Biographic Litreria—अर्थात् काव्य विज्ञान का विलोम है जिसका आत्यप्तिक उद्देश्य आनन्द है सत्य प्राप्ति।

एडगर एलन पो—It is the rhythmic creation of beauty अर्थात् कविता सौंदर्य की कलात्मक सृष्टि है।

जान रस्किन—It is the suggestion by the imagination of the noble ground for the noble emotions —Modern Painters—अर्थात् कविता कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिये रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है।

प्रोफेसर कोर्ट होप—The art of producing pleasure by the just expression of imaginative thought unmetrical language. अर्थात् काव्य वह कला है जो छन्दोमयी भाषा में कल्पना से अभिभूत विचारों और भावों की उचित अभिव्यक्ति कर आनन्द प्रदान करती है।

डब्ल्यू० एच० हडसन—An interpretation of life through imagination and feeling. अर्थात् भाव और कल्पना के द्वारा जीवन की व्याख्या ही काव्य है।

एवर क्राम्बि—Poetry is a communicapable experience through words. अर्थात् काव्य भाषा के माध्यम से प्रेषणीय अनुभूति है।

लार्ड बायरन—Thus their extreme verge the passions brought, Dash in poetry, which is but passions. अर्थात् जब मनुष्य की वासनायें या भावनायें अन्तिम सीमा पर पहुँच जाती है तब वे कविता का रूप धारण कर लेती हैं।

कवि ड्रायडन—Poetry is articulate music. कविता स्पष्ट संगीत है।

उपर्युक्त प्राच्य एवं पाश्चात्य मनीषियों के निर्देशित काव्य-लक्षणों पर विचार करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि उनके बताये लक्षणों एवं परिभाषाओं में से एक भी ऐसी नहीं है जो काव्य के पूर्ण स्वरूप की व्याख्या करने में समर्थ हों, लगभग सभी एकांगी हैं, कोई मस्तिष्क के योगदान में अधिक विश्वास करता है तो कोई हृदय के योगदान में, कहीं काव्य में मनोमोहक शक्ति की प्रशंसा की गयी है तो कहीं उसके रमणीय गुणों की, किसी ने भाव पर, किसी ने कल्पना पर, किसी ने रचना-विधान पर, किसी ने उद्दीपक शक्ति पर, किसी ने कवि की अन्तर्दृष्टि पर बल दिया है, कोई काव्य को आनन्दमूलक, कोई कलामूलक, कोई भावमूलक, कोई अनुभूतिमूलक, कोई जीवनवृत्तिमूलक और कोई हृदयोद्‌गारमूलक और कोई काव्य को युग की अभिव्यक्ति का माध्यम मानता है। काव्य में भाषा, छन्द, संगीत, सत्य, सौन्दर्य, ज्ञान, रस और आनन्द को तो मुख्य स्थान लगभग सभी ने दिया ही है।

ऐसी स्थिति में वस्तु-विवेचन की भिन्नता में किसी एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा नहीं जा सकता। दोनों वर्गों के मनीषियों की उक्तियों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य हृदय की वस्तु है, इस पर सौन्दर्य का परिधान होना चाहिये, साथ ही आनन्द का प्रदाता, किन्तु सर्वोपरि कवि की कल्पना का पुट लिये हुये भावुकतापूर्ण उक्ति जब श्रोता या पाठक के हृदय को छू जावे तभी वह काव्य है। ये काव्य में सामयिक युग की अभिव्यक्ति होना उसके गुण में निखार लाना है जोकि आवश्यक है। संक्षेप में काव्य का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य का विषय प्रभावपूर्ण होना चाहिये ताकि मानव हृदय से पशुभाव अहंभाव को निकालकर उसमें सच्चे मनुष्यत्व, विश्वबन्धुत्व का भाव प्रतिबिम्बित कर सकें।

काव्य के भेद

काव्य के भेद तीन दृष्टियों से किये जा सकते हैं (१) गुण, (२) शैली, (३) प्रयोजन।

(१) गुण की दृष्टि से काव्य के ३ भेद किये जा सकते हैं: (अ) उत्तम काव्य, (ब) मध्यम काव्य (स) अधम काव्य।

ऐसे शब्दों में ऐसे ढंग से प्रकट किया जाय कि उसमें संसार के अन्य वस्तुओं की अपेक्षा, मोहनशक्ति, आकर्षण, रस और आनन्द अधिक हो।

[अ] **उत्तम काव्य**—प्रत्येक शब्द या पद का अपना एक अर्थ होता है जो काव्यार्थ कहलाता है; लेकिन कभी-कभी उसी शब्द या पद से एक दूसरा अर्थ भी निकलता है जिसकी ओर वे संकेत करते हैं जिसे व्यंग्यार्थ कहते है। उत्तम काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी होता है। जैसे:—

अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध, और आँखों में पानी॥

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने उक्त पंक्तियाँ यशोधरा के वियोगावस्था एवं तदनिहित नारी की विवशता की ओर संकेत करते हुये लिखा है कि नारी जीवन में दो बातें मुख्य होती हैं—आँचल में दूध और आँखों में आँसू। व्यंग्यार्थ है वात्सल्य और करुणा या वेदना। तो यशोधरा जहाँ एक ओर पुत्र राहुल के लिये वात्सल्य उंडेल रही है, वहीं दूसरी ओर सिद्धार्थ के लिये विरह वेदना के कारण आँखों में आँसू भी लिये है। इस प्रकार यहाँ व्यंग्यार्थ में चमत्कार है।

[ब] **मध्यम काव्य**—जहाँ व्यंग्यार्थ गौण हो जाता है अथवा व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ समान कोटि के हों। व्यंग्यार्थ अप्रधान रहने के कारण इसे गुणीभूत व्यंग्य भी कहते हैं। जैसे:—

रघुबर बिरहानल तपे, सह्य शैल के अन्त।
सुख सों सोये शिशिर में, कपि कोपे हनुमन्त॥

अर्थात् वाच्यार्थ की दृष्टि से "जाड़े के मौसम में राम की विरहाग्नि से तपे हुये सह्य नामक पर्वत पर सुख से सोये हुये वानर हनुमान पर क्रोधित हुये। व्यंग्यार्थ की दृष्टि से "हनुमान के द्वारा सीता का कुशल समाचार सुनकर राम की विरह ज्वाला शान्त हो गयी, फलस्वरूप सह्य पर्वत पर शीत की अधिकता का अनुभव कर वानरगण हनुमान पर कुपित हुए।" यहाँ व्यंग्यार्थ से स्पष्ट होने पर ही हनुमान 'पर वानरों का कोप' संगत सिद्ध हुआ, अत: वाच्य साधक होने के कारण व्यंग्यार्थ गौण हो गया।

[स] **अधम काव्य**—जब काव्य में केवल वाच्यार्थ में ही चमत्कार पाया

जाता है और व्यंग्यार्थ का नितान्त अभाव रहता है, तब अधम या चित्र काव्य कहलाता है, जैसे:—

अंगद कूदि गये जहाँ, आसनगत लंकेश।
मन मधुकर करहाट पर, शोभित श्यामल वेश ॥

उपर्युक्त पद में अन्तिम पंक्ति में केवल अर्थ चमत्कार है, व्यंग्यार्थव्य अभाव है।

(२) **शैली की दृष्टि** से काव्य के तीन भेद किये गये हैं। (अ) गद्य, (ब) पद्य, (स) चम्पू ।

अ—गद्य

गद्य वह शैली है जिससे व्याकरण के नियमों का पूर्णतः पालन करते हुये वाक्यों का विन्यास किया जाता है। गद्य में रागात्मिका वृत्तियों को ही नहीं, बोधात्मक वृत्तियों को भी प्रश्रय मिलता है। इस शैली में हृदगत बातों को विस्तृत रूप से प्रकट करने का क्षेत्र विशद् है। इसके अन्तर्गत, निबन्ध, उपन्यास कहानी आदि आते हैं।

ब—पद्य

पिंगल शास्त्र के नियमों से आबद्ध रचना को पद्य कहते हैं। इसमें साधारण तुकबन्दी से लेकर गम्भीर और सरस रचनाओं तक का समावेश होता है साथ ही छन्दों का विधान होता है। इसमें रचयिता अर्थात् कवि को यह छूट दे दी जाती है कि वह भाषा और व्याकरण के सामान्य स्वीकृत नियमों का उल्लंघन कर सकता है तथा अपनी सुविधानुसार तोड़मरोड़ सकता है।

स—चम्पू

"गद्य पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते" अर्थात् ऐसी रचनायें जिनमें गद्य और पद्य दोनों शैलियों का मिश्रित या सम्मिलित रूप हो जैसे संस्कृत में "देशराज चरित" और हिन्दी में प्रसाद के चित्राधार में संग्रहीत उर्वशी और बभ्रुवाहन, अनूप शर्मा का 'फेरि मिलिके' आदि। संस्कृत में अनेक चम्पू काव्य मिलते हैं किन्तु हिन्दी में यह परम्परा प्रचार न पा सकी।

(३) प्रयोजन या स्वरूप की दृष्टि से काव्य के दो भेद हैं (अ) श्रव्य-काव्य, (ब) दृश्य-काव्य ।

अ—श्रव्य-काव्य

श्रव्य काव्य की रसानुभूति श्रवण या पठन से होती है । इस काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तककाव्य आते हैं ।

(i) महाकाव्य

किसी महापुरुष या आदर्श पुरुष के समस्त जीवन-वृत्त के आधार पर की गई रचना को महाकाव्य कहते हैं । नायक धीरोदात्त श्रेणी का होना चाहिये एवं उसका लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन ४ पदार्थों में किसी एक की प्राप्ति होना चाहिये । शृंगार व वीर रस की प्रधानता रहती है । महाकाव्य का सर्गबद्ध होना आवश्यक है—कम से कम ८ सर्ग । उदाहरण :—

(४) तुलसीदास—रामचरितमानस (२) हरिऔध—प्रियप्रवास
(३) मैथिलीशरणगुप्त—साकेत (१) प्रसाद—कामायनी
(५) द्वारिकाप्रसादमिश्र—कृष्णायन (६) रामकुमार वर्मा—एकलव्य
(७) गिरिश—ताड़क-वध (८) परमेश्वरद्विरेफ—मीरा

(ii) खण्ड-काव्य

जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर खण्ड काव्य की रचना की जाती है जोकि अपने में स्वय पूर्ण होती हैं । इसमें प्रायः जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना या दृश्य का मार्मिक उद्‌घाटन होता है और अन्य प्रसंग संक्षेप में रहते हैं । उदाहरण :—

(१) तुलसीदास—पार्वतीमंगल (२) प्रसाद—आँसू
(३) मैथिलीशरणगुप्त—यशोधरा, पंचवटी (४) द्विरेफ—कमला नेहरू

(iii) मुक्तक-काव्य

जिसके अन्तर्गत रचना के विभिन्न छन्दों में किसी प्रकार की किसी विचार या कथा की धारा या शृंखला न पायी जावे और प्रत्येक छन्द स्वयं में पूर्ण और निरपेक्ष हो । इसके प्रत्येक छन्द स्वच्छन्द होते हैं, जैसे—सूरसागर, विनयपत्रिका, बिहारी सतसई आदि ।

ब—दृश्य-काव्य

इस काव्य की रसानुभूति अभिनयादि के देखने से होती है। इसका रसास्वादन पठित और अपठित दोनों वर्ग कर सकते हैं।

इसके अन्तर्गत रूपक और उपरूपक आते हैं।

रूपक के १० भेद होते हैं

(१) नाटक (२) प्रकरण (३) भाण (४) प्रहसन (५) डिम (६) व्यायोग (७) समवकार (८) बीथी (९) ईहामृग (१०) अंक।

(१) **नाटक**—इसमें इतिहास-प्रसिद्ध कथा होती है। नायक धीर, गम्भीर, उदात्त, प्रतापी, गुणवान राजा, राजर्षि या दिव्य-पुरुष होता है। प्रधान रस वीर या श्रृंगार रस होता है और अन्य रस सहायक रूप में। ५ से लेकर १० अंक तक होते हैं; किन्तु ५ से अधिक अंक वाले महानाटक कहलाते हैं। अंक उत्तरोत्तर छोटा होना चाहिये।

(२) **प्रकरण**—कथावस्तु लौकिक और कवि-कल्पित होती है। नायक ब्राह्मण, क्षत्री अथवा वैश्य होता है। श्रृंगाररस प्रधान, अन्य रस सहायक रूप में प्रयुक्त होते हैं। नायिका वेश्या या कुल कन्या होती है। नायक धर्म, अर्थ काम में पारायण रहकर मनोरथ में सफल होता है।

उदाहरणार्थ—मालती माधव

(३) **भाण**—इसमें एक ही अंक और एक ही पात्र होता है। वह रंग-मंच पर अपनी या दूसरों की अनुभूत बातों को कथोपकथन के रूप में आकाश भाकित के द्वारा प्रकाशित करता है। इसमें धूर्तों का ही चरित अनेक अवस्थाओं में व्याप्त दिखाया जाता है। जैसे— वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।

(४) **प्रहसन**—यह भी भाण के ही समान होता है हास्य-रस की अधिकता होती है। नायक के रूप में सन्यासी, तपस्वी, नपुंसक या कंचुकी आदि की योजना की जाती है।

(५) **डिम**—इसमें पुराण या इतिहास प्रसिद्ध कथा होती है जिसमें माया-इन्द्रजाल, क्रोध संग्राम, उन्मत्त आदि की चेष्टाओं का समावेश रहता है। रौद्ररस प्रधान और शान्त, हास्य, श्रृंगार के अतिरिक्त अन्य रस सहायक होते

हैं। ४ अंक होता है। देवता, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, भूत, प्रेत, पिशाच, महोरग आदि उद्धत १६ नायक होते हैं।

(६) व्यायोग—इसका कथानक भी इतिहास या पुराण-प्रसिद्ध होता है; किन्तु नायक धीरोदात्त, राजर्षि या दिव्य पुरुष होता है। पात्रों की अधिकता रहती है लेकिन स्त्रीपात्र एक भी नहीं। एक ही अंक और एक ही दिन का वृत्तान्त होता है। युद्ध होता है किन्तु स्त्री के कारण नहीं।

(७) समवकार—इसमें देवताओं और असुरों से संबंधित घटना का वर्णन होता है। ३ अंक होते हैं और १२ देवासुर नायक। वीर रस मुख्य होता, अन्य रस पुष्टि करते हैं।

(८ बीथी—इसमें एक अंक होता है। उत्तम, मध्यम और अधम में से कोई एक पुरुष नायक कल्पित कर लिया जाता है। शृङ्गार रस की अधिकता भाण की तरह आकाशभाषित द्वारा उक्ति प्रत्युक्ति होती है।

(९) ईहामृग—कुछ ऐतिहासिक और कुछ कल्पित मिश्रित वृत्तान्त होते हैं। एक अंक होता है। नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत पुरुष होता है।

(१०) अंक—एक अंक होता है, वृत्तान्त प्रख्यात, नायक साधारण पुरुष। स्त्रियों के विलाप की अधिकता के कारण करुण रस प्रधान होता है।

उपरूपक के १८ भेद होते हैं

(१) नाटिका (२) चोटक (३) गोष्ठी (४) सट्टक (५) नाट्यरासक (६) प्रस्थानक (७) उल्लाप्य (८) काव्य (९) रासक (१०) प्रेक्षण (११) संलापक (१२) श्रीगदित (१३) शिल्पक (१४) विलासिका (१५) दुर्मल्लिका (१६) प्रकरिणका (१७) हल्लीश (१८) भाणिका।

उपरूपक

(१) नाटिका—इसमें चार अंक होते हैं। अधिकांश पात्र स्त्रियां होती हैं। नायक धीर-ललित राजा होता है। नायिका रनिवास से सम्बद्ध राजवंश की कोई गायन-पटु अनुरागवती कन्या होती है।

(२) चोटक—इसमें पांच, सात, आठ या नौ अङ्क होते हैं। प्रत्येक अङ्क में विदूषक का व्यापार रहता है। शृंगार रस प्रधान होता है।

(३) गोष्ठी—इसमें एक ही अङ्क होता है। पांच-छह स्त्रियों और नौ-दस

मनुष्यों का व्यापार रहता है। वासनामय काम) श्रृंगार की प्रधानता रहती है।

(४) **सट्टक**—इसकी रचना प्राकृत में मानी गई है। इसमें अद्भुत रस रहता है। अङ्कों को 'जवनिका' कहते हैं, अन्य बातें नाटिका के सदृश होती है।

(५) **नाट्यरासक**—इसमें एक ही अङ्क होता है। श्रृंगार सहित हास्य रस प्रधान रहता है। नायक उदात्त, उपनायक पीठमर्द तथा नायिका वासक सज्जा होती है।

(६) **प्रस्थानक**—इसमें दो अङ्क होते हैं। नायक दास और उपनायक हीन पुरुष होता है। नायिका दासी होती है।

(७) **उल्लाप्य**—इसमें एक अङ्क, दिव्य कथा, धीरोदात्त नायक, तथा हास्य श्रृंगार एवं करुण रस होते हैं। कुछ लोग इसमें तीन अङ्क मानते हैं।

(८) **काव्य**—इसमें एक अङ्क और हस्य रस होता है। गीतों की अधिकता होती है।

(९) **रासक**—इसमें भी एक ही अङ्क होता है। पांच पात्र होते हैं, सूत्राधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। इसमें उदात्तभाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किए जाते हैं।

(१०) **प्रेक्षण**—इसमें भी एक ही अङ्क होता है। नायक हीन पुरुष होता है। इसमें सूत्राधार नहीं होता। नान्दी तथा प्ररोचना नेपथ्य से पढ़ी जाती है।

(११) **संलापक**—इसमें तीन या चार अङ्क होते हैं। नायक पाखंडी होता है। श्रृंगार और करुण रस नहीं होते। इसमें नगर के घेरे, संग्राम आदि का वर्णन रहता है।

(१२) **श्रीगदित**—इसमें कथा प्रसिद्ध होती है। यह एक अङ्क का होता है। नायक धीरोदात्त और नायिका प्रख्यात होती है।

(१३) **शिल्पक**—इसमें चार अङ्क होते हैं। शान्त और हास्य के अतिरिक्त अन्य रस होते हैं। नायक ब्राह्मण होता है। इसमें मरघट मुर्दे आदि का वर्णन रहता है।

(१४) बिलासिका—यह शृंगार-बहुल, एक अङ्क वाली विदूषक विटपीठ मर्द से विभूषित, हीन गुण-नायक से मुक्त, छोटी कथावली होती है।

(१५) दुर्मल्लिका—इसमें चार अङ्क होते हैं। पहले अङ्क में विट की क्रीडा, दूसरे में विदूषक का विलास, तीसरे में पीठमर्द का विलास व्यापार और चौथे में नागरिकों की क्रीडा रहती है। इन चारों अङ्कों का व्यापार क्रमशः ६, १०, १२ और २० घड़ी का रहता है। इसमें पुरुष पात्र सब चतुर होते हैं पर नायक छोटी जाति का होता है।

(१६) प्रकरणिका—इसमें नायक व्यापारी होता है। नायिका उसकी सजातीय होती है शेष बातों में यह 'प्रकरण' के सदृश होती है।

(१७) हल्लीश—इसमें एक ही अङ्क होता है। सात से दस तक स्त्रियां होती है और एक उदात्त वचन बोलने वाला पुरुष रहता है। इसमें गाने, ताल और लय अधिक होते हैं।

(१८) भणिका—इसमें भी एक अङ्क होता है। नायक मन्दमति तथा नायिका उदात्त होती है।

शब्द-शक्ति

शब्दविहीन अर्थ एवं अर्थविहीन शब्द की कल्पना साहित्य के काव्य प्रदीप के अन्तर्गत की ही नहीं जा सकती। व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ को समझने के लिये शब्द शक्ति का ज्ञान होना आवश्यक है। वर्णों के समूह को शब्द कहते हैं, अतएव जिसके द्वारा शब्द के अर्थ की प्रतीति या बोध हो उसे शब्द-शक्ति कहते हैं।

शब्द शक्ति के तीन भेद माने गये हैं
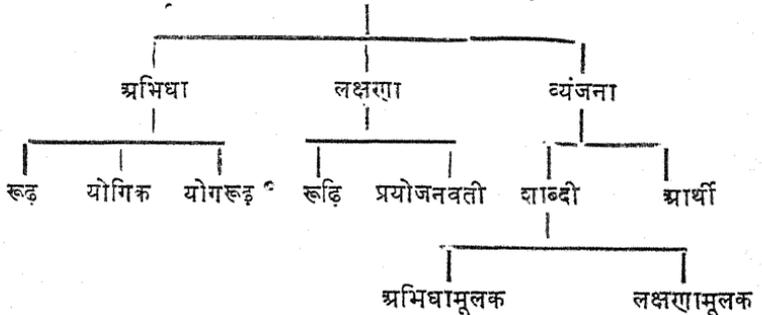
१—अभिधा

शब्द को सुनते ही सब से प्रथम जिस अर्थ का बोध होता है उके वाच्यार्थ कहते हैं और वाच्यार्थ को कहने वाला शब्द वाचक कहलाता है एवं जिस शक्ति के द्वारा यह अर्थ बोधगम्य होता है उसे 'अभिधा' शक्ति कहते हैं। अभिधा वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द के केवल संकेतित अर्थ का बोध कराती है। अभिधा के द्वारा अर्थ निश्चित रहता है तथापि उसमें कल्पना आदि का चमत्कार रहता है जैसे:—

अभिधा शक्ति द्वारा जिन वाचक या सशक्त शब्दों का अर्द ज्ञात होता है वे ३ प्रकार के होते हैं।

सोहत ओढ़े पीतपट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमणि सैल पर, आतप परयो प्रभात॥

(अ रूढ़—इन शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं होती अर्थात् जिन शब्दों के प्रयोग किये जाने पर किसी विशेष प्रसिद्ध अर्थ का बोध होता है, जैसे—पेड़, गाय, घोड़ा, घड़ा, आदि।

(आ) योगिक—जिसमें प्रकृति और प्रत्यय का योग सम्मिलन होकर समुदयार्थ की प्रतीति हो अर्थात् जिन शब्दों के टुकड़े करके प्रत्येक टुकड़े का अलग-अलग अर्थ करते हुये फिर समूचे शब्द के अर्थ का बोध हो, जैसे—भूपति, सुधांशु आदि। भू = पृथ्वी + पति = स्वामी = राजा या जमींदार, सुधा = अमृत + अंशु = किरण = चन्द्रमा।

(इ) योगरूढ़—जिसमें अंग-शक्ति और समूह-शक्ति दोनों का सम्मिश्रण हो अर्थात् जिन शब्दों के खण्डों के अर्थ से बोध होने वाली सभी वस्तुओं के लिये उस शब्द का प्रयोग न करके किसी एक विशेष प्रसिद्ध वस्तु के लिये प्रयोग किया जाय। जैसे—गणनायक, पंकज आदि।

गण + नायक = किसी गण का नेता किन्तु प्रसिद्ध बोध करने वाला अर्थ है गणेश।

पंक + ज = कीचड़ में जन्म लेने वाले कीड़े-मकोड़े आदि नहीं बल्कि कमल।

महाकवि देव के अनुसार उत्तम काव्य अभिधा में ही रहता है; क्योंकि इससे ही रसकी निष्पत्ति होती है। वह कहते हैं :—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणालीन।
अधम व्यंजना रस विरस, उलटी कहत नवीन॥

२—लक्षणा

जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो अर्थात् जिन शब्दों का मुख्यार्थ न लेकर उसी से सम्बन्धित कोई दूसरा अर्थ लक्षित हो जो कि रूढ़ अथवा प्रसिद्ध हो। शास्त्र में इसके ८० भेद बताये गये हैं, किन्तु मुख्य दो हैं।

(अ) रूढ़ि—जिसमें प्रसिद्धि के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर उससे सम्बन्धित दूसरा अर्थ ग्रहण किया जावे, जैसे—"पंजाब लड़ाका" है अथवा "भारत साहसी है" में पंजाब प्रदेश या भारत लड़ाका या साहसी नहीं हो सकता अतएव इनसे सम्बन्धित पंजाब के निवासियों अथवा भारतवासी का अर्थ लिया जायेगा।

(आ) प्रयोजनवती—जहाँ किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये लक्षणा की जाय अर्थात् अर्थ लगाया जावे, अथवा जहाँ किसी विशेष प्रकार के प्रयोजन या अभिप्राय को व्यंजित करने के लिये शब्द का अर्थ लिया जाता है जसे—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

इसमें आँचल में दूध का होना—मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है अतएव सामीप्य के कारण स्तन में दूध का होना लक्ष्यार्थ लिया जाता है जिसका प्रयोजन है मातृत्व का आधिक्य। आगे लक्षणा के अन्य दो भेद माने गये हैं :—

(१) गौणी (२) शुद्धा।

(१) गौणी लक्षणा में समान गुण धर्म और सादृश्यता के द्वारा लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है जैसे 'पुरुष सिंह है'। इस उदाहरण में समान गुण के

कारण सिंह के समान बलवान पुरुष का बोध होता है ।

गौणी लक्षणा के दो भेद माने गये हैं—(क) सारोपा (ख) साध्यवसाना

(क) सारोपा—इसमें उपमेय और उपमान दोनों मौजूद होते हैं जैसे पुरुष (उपमेय) सिंह (उपमान) है ।

खेल खेल थक थक सोने दो ।
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या ॥

(ख) साध्यवसाना—जहाँ उपमेय का कथन न होकर केवल उपमान का कथन होता है । जैसे "सिंह अखाड़े में उतरा"

बैरिनि कहा बिछावती फिर फिर सेज कृसान ।
सुनो न मेरे प्राणधन, चहत आज कहुँ जान ॥

(२) शुद्धा—जहाँ सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है । जैसे **"लाल पगड़ी के आते ही भीड़ छट गयी ।"** यहाँ पर लाल पगड़ी का साहचर्य सम्बन्ध पुलिस सिपाही से है । यथा

चाहे जितना अर्घ्य चढ़ाओ पत्थर पिघल नहीं सकता ।
चाहे जितना दूध पिलाओ, अहि विष निकल नहीं सकता ॥

शुद्धा लक्षणा के भी दो भेद मुख्य होते हैं—(क) लक्षण (ख) उपादान

(क) लक्षण—जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर वाक्यार्थ की सिद्धि के लिये प्रसंगानुकूल मुख्यार्थ का नितान्त त्याग कर सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के सहारे भिन्न अर्थ ग्रहण किया जाता है जैसे :—

मोहि दीन्ह सुख सुजस सुराजू । कीन्ह कैकेयी सबकर काजू ॥
एहि ते मोर कहा अब नीका । तेहि पर देन चहहु तुम टीका ॥

(ख) उपादान—जहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने पर और वाक्यार्थ की संगति के लिये अन्य अर्थ लक्षित होने पर भी अपना निजी अर्थ न छूटे । जैसे:—

मैं हूँ बहिन किन्तु भाई नहीं है ।
राखी सजी पर कलाई नहीं है ॥

३—व्यंजना

अभिधा और लक्षणा द्वारा जिस शब्द का अर्थ उपलब्ध नहीं होता, बल्कि एक दूसरा ही अप्रकट अर्थ लिया जाय उन्हें व्यंजक शब्द कहते हैं और जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है वह व्यंजना कहलाता है।

इसके दो प्रमुख भेद हैं

(अ) शाब्दी—जहाँ व्यंजना का आधार शब्द होता है, जैसे:—

चिर जीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये बृषभानुजा, वै हलधर के वीर॥

वृषभानुजा=गाय और राधा, हलधर=बैल और बलराम। इसके भी दो भेद हैं :—

(क) **अभिधामूलक**—जहाँ संयोगादि के द्वारा अनेकार्थी शब्दों का अभिधा के द्वारा एक अर्थ निश्चय हो जाने पर भी कोई अन्य अद्भुत अर्थ निकले। उदाहरण :—

(१) नग सूनो बिन मूँदरी।

'नग का अर्थ नगीना और पर्वत दोनों होता है; किन्तु मूँदरी के साहचर्य्य के कारण नगीना का अर्थ होगा।

(२) हरि के चढ़ते ही उड़े सब द्विज एकै साथ।

हरि का अर्थ विष्णु, बन्दर, सिंह आदि होता है और द्विज का अर्थ ब्राह्मण और पक्षी आदि किन्तु 'चढ़ने' और 'उड़ने' की क्रिया के साहचर्य्य से बन्दर और पक्षी का अर्थ ही होगा।

(ख) **लक्षणामूलक**—जहाँ लक्ष्यार्थ द्वारा एक अर्थ का निश्चय हो जावे फिर भी कोई दूसरा अद्भुत अर्थ निकले वहाँ लक्षणामूलक व्यंजना होती है। उदाहरण :—

"कूकती कोइलिया कानन लौं नहि जाति सह्यौ तिन की सुअवाजें।
भूमितै लैके अकाश लौं फूलै, पलास दवानल की छवि छाजैं॥
आये बसन्त नहीं घर कन्त लगी, सब अन्त की होने इलाजैं।
बैठी रही हूँ हम हिय हारि कहा लगि टारियें हाथन गाजें।"

इस कविता में बसन्त आगमन पर किसी नायिका का विरह-वर्णन है। जिसमें वेदना की अतिशयता व्यंग्य है। दुःख के रोकने के सभी उपायों को नायिका हाथ से वज्र रोकना समझ बैठी है जो सम्भव नहीं है।

(आ) आर्थी—जहाँ व्यंजना अर्थ पर निर्भर होती है। इस के ११ भेद माने गये हैं।

(१) वक्तृवैशिष्य (२) बोधव्य (३) वाक्य (४) काकु (५) प्रस्ताव (६) वाच्य (७) देश (८) काल (९) अन्य सान्निध्य (१०). चेष्टा (११) अनेक वैशिष्ट्य।

उदाहरण:—

(१) "मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू
तुमहि उचित तप मो कहँ जोगू।"

इसमें व्यंग्यार्थ कि मैं ही सुकुमार नहीं आप भी सुकुमार हैं।

(२) कंटक काढ़त लाल के चंचल चाह निबाहि।
चरन खैंचि लीनो तिया हँसि झूठे करि आहि॥

यहाँ झूठ-मूठ आह भर के और हँस कर चरन खींच लेने से नायिका का हाव-भाव व्यंग्य है।

ध्वनि

जब शब्दार्थ अपने निजी अर्थ को छोड़कर जिस व्यंग्यार्थ या विशेषार्थ से काव्य में विशेषता प्रकट करता है उसे ध्वनि कहते हैं।[1] जैसे:—

"जो वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आप।
तौ बलि नैकु बिलोकिये चलि औचक चुपचाप॥"

यहाँ 'औचक चुपचाप' का अर्थ है अचानक और चुपचापै चलकर जाना।

इसके मुख्य दो भेद माने गये हैं

१—यत्रार्थ :शब्दों वा तमर्थमुह सर्जनी कृत स्वार्थों।
व्यक्तं काव्य विशेषः ध्वनिरिति सूरभिः कथितः॥

(क) **संलक्ष्यक्रमध्वनि**—जहाँ व्यंग्यार्थ अथवा विशेपार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित हो।

उदाहरण :—

"कहा लड़ैते दृग करै, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीतपट, कहूँ मुकुट वनमाल ॥"

यहाँ व्याजस्तुति अलंकार है कि ऊपर से बड़ाई मालूम पड़ती है किन्तु अन्दर से निन्दा है कि तूने क्या लड़ाकू नेत्र धारण कर रखे हैं जिसकी चोट खाकर बेचारे कृष्ण अभी तक बेहाल पड़े हैं।

(ख) **असंलक्ष्यक्रमध्वनि**—जहाँ व्यंग्यार्थ अथवा विशेपार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित न हो।

उदाहरण :—

"रहिमन कबहुँ बड़ेन के, नाहि गर्व को लेश।
भार धरै संसार को, तऊ कहावत शेष ॥"

इस उक्ति में बड़े व्यक्तियों की प्रशंसा निहित है किन्तु क्रम अलक्षित है।

इसके अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावसन्धि, भावोदय और भावशबलता माने गये हैं। जिनका वर्णन रस के प्रकरण में है।

अलंकार

सौन्दर्य किसे प्रिय नहीं है। व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में, वातावरण में, आचार व्यवहार, वेष-भूषा में स्वभावतः सौन्दर्यप्रिय होता है। अलंकार का उपयोग सौन्दर्य वृद्धि के लिये ही होता है। यह सौन्दर्य चाहे भावों का हो अथवा अभिव्यक्ति का। अलंकार जहाँ एक ओर भावों को सजाने, रमणीयता प्रदान करने में योग देते हैं वहीं दूसरी ओर भावाभिव्यक्ति को प्रांजल बना प्रभावशाली भी बनाते हैं। किसी तथ्य, अनुभूति, घटना या चरित्र की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिये अलंकारों की उपयोगिता होती है। उदाहरणार्थ नीचे लोकगीत की दो पंक्तियों में उपमा और उदाहरण का कितना सुन्दर समन्वय है :—

> लोहवा जरै जैसे लोहरा दुकनिया रे ना।
> मोरी बहिनी जरै ससुररिया रे ना॥

लोहार की भट्टी में जिस प्रकार लोहा तिल-तिल कर जलता है उसी प्रकार भाई की लाड़ली बहिन ससुराल में सुबक-सुबक कर जी रही है इसका कितना ममस्पर्शी विवरण है।

अलंकार वाणी को विभूषित करने वाली है। सामान्य कथ्य भी अलंकारों से भूषित होकर मनोहरता विशेष से युक्त हो जाती है। अतएव हम कह सकते हैं कि अलंकार कथन की ललित भंगिमा है अथवा अलंकार साधारण कथन न होकर चमत्कारपूर्ण युक्ति है।

अनादिकाल से वेदों, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और पुराण आदि ग्रन्थों में अलंकारात्मक वर्णन यथेष्ट मिलते हैं। मानव प्रकृति से ही सजावट और शृङ्गार का प्रेमी है। प्राकृतिक और वास्तविक सौन्दर्य के साथ-ही-साथ यदि उसको और अधिक भूषित करने के वाह्य साधन यदि वह जुटा पाता है तो इस प्रकार के भूषित सौन्दर्य को देखकर वह अधिक प्रसन्न होता है। रूप-सज्जा, शृङ्गार, बोलचाल, भाषा, व्यवहार, कहने का तात्पर्य यह है कि

जीवन के दैनिक कार्य-व्यवहार में मनुष्य अलंकार अथवा वाह्य आडम्बर व प्रेमी होता है।

साहित्य में भी अलंकार का महत्वपूर्ण स्थान है। काव्यालंकार-सूत्र कहा हैं:—

युवतेरिवरूपमंगकाव्यं, स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहित प्रणयनिरन्तराभिः, सदलंकारविकल्पनाभिः ॥

अर्थात्—"काव्य युवती के रूप के समान है, वह शुद्ध गुणयुक्त होने पर तो रुचिकर होता ही है तथापि रत्न-आभूषणों से सज्जित हो जाने पर रसिक जनों को अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होती है, उसी प्रकार गुणयुक्त काव्य भी अलंकारों से युक्त हो जाने पर काव्य-मर्मज्ञों के चित को अत्यन्त आह्लाद प्रदान करता है।

काव्य में ध्वनि, रस, गुण और अलंकार महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, जिसमें प्रथम स्थान ध्वनि को, द्वितीय रस को तथा तृतीय स्थान अलंकार को दिया जाता है। संस्कृत तथा हिन्दी के सभी आचार्यों ने अलंकार को काव्य का आवश्यक अंग माना है। भरत मुनि ने कहा है कि ध्वनि का सर्वोच्च स्थान होते हुये भी काव्य का शब्द-सौन्दर्य और मनोहरता अलंकार पर ही निर्भर है।[1] अलम् का अर्थ है आभूषण अतएव जो भूषित या अलंकृत करे वही अलंकार है। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय इस कारण व्युत्पत्ति से उपमा आदि का ग्रहण हो जाता है।[2]

ध्वनिकार मम्मट की उक्ति है कि कहने के निराले ढंग अनन्त हैं और उनके प्रकार ही अलंकार हैं।[3] आचार्य रुद्रट कहते हैं "कवि प्रतिभा से

---

१. अलंकरणमर्थानामर्थालंकारमिष्यते।
तं विना शब्द सौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् —अग्निपुराण

२. "अलंकृतिः अलंकारः। करणव्युत्पत्या पुनः अलंकार शब्दोऽय मुपमादिषुवर्तते।" —वामन वृत्ति

३. अनन्ताहि नाग्विकल्पाः तत्प्रकारा एवं चालंकाराः। —ध्वन्यालोक

प्रादुर्भूत कथन विशेष ही अलंकार है।[1] **आचार्य कुन्तल** कहते हैं "विदग्धों के कहने के ढंग ही वक्रोक्ति हैं और वही अलंकार है[2] **वामन** का कथन है कि अलंकार के ही कारण काव्य ग्राह्य है और अलंकार सौन्दर्य है।"[3] **दण्डी** ने तो अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म माना है[4] और साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का विश्वास है कि "शब्द और अर्थ के सौन्दर्य की विभूति के बढ़ाने वाले धर्म ही अलंकार[5]।"

इस प्रकार भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।

डा० भगीरथ मिश्र ने अलंकारों के प्रयोग निम्नलिखित प्रधान परिस्थितियाँ मानी है :—

(क) जहाँ पर हम किसी तथ्य वस्तु या चरित्र के स्वरूप को प्रगट करना चाहते हैं वहाँ अप्रस्तुत की योजना करने में अलंकार का प्रयोग होता है।

(ख) जहाँ किसी प्रभाव को स्पष्ट करना चाहते हैं वहाँ पर हम बल, निषेध अत्युक्ति कार्य कारण संबंध, हेतु कल्पना आदि के द्वारा अपना काम चलाते हैं और इस प्रकार अलंकार आ जाते हैं।

(ग) कहीं क्रम, असंगति तथा संज्ञा विशेषण क्रिया आदि के चमत्कारिक प्रयोग में अलंकार रहते हैं।

(घ) कहीं विरोध या वैपरीत्य द्वारा हम कथन को प्रवीण बनाना चाहते हैं और अलंकार का प्रयोग करते हैं।

---

१. अभिधान प्रकार विशेषा एवं चालंकारः। —अलंकार सर्वस्व

२. उभावेतावलंकार्यौ तयः पुनरलंकृतः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते। —वक्रोक्ति जीवित

३. काव्यंग्राह्यमलंकारात सौन्दर्यमलंकारः। — काव्यलंकारसत्र

४. काव्यशोभाकारान् धर्मान अलंकारान् प्रचक्षते —काव्यदर्श

५. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभाति शायिनः। —साहित्यदर्पण

(ङ) कहीं हम निन्दा या प्रशंसा में दूसरा भाव छिपा कर व्यंग्य से कुछ और कहना चाहते हैं और अलंकार का समावेश हो जाता है।

(च) कहीं शब्द के ध्वनि या अर्थ सम्बन्धी चमत्कारिक प्रयोगों द्वारा अलंकार की सृष्टि होती है। आदि आदि

डा० श्यामसुन्दरदास ने अलंकार को 'शब्द और अर्थ को अस्थिर धर्म' माना है जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकार की परिभाषा करते हुए लिखा है :

"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।"

इस उपर्युक्त धाराओं पर विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार का दो मुख्य कार्य हैं।

(१) भावों का उत्कर्ष दिखाना।

(२) वस्तुओं के रूपानुभव, गुणानुभव और क्रियानुभव को तीव्र करना।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त की अलंकारिक भाषा अलंकार की परिभाषा देखिये पल्लव की भूमिका में :

"अलंकार केवल वाणी की सजावट नहीं वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार है। भाषा की पुष्टि के लिये राग की परिपूर्णता के लिये, आवश्यक उपादान है, वे वाणी के आचार, व्यवहार और रीति नीति है, पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकराकर जैसे फेनाकार हो गयी हों। विशेष भावों के झोंके खाकर बाल लहरिया तरुण तरंगों में फूट गयी हो, कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हो। वे वाणी के हास अश्रु, स्वप्न, पुलक हाव-भाव है। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे से फिट करने के लिये बुनी जाती है वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता के बँधकर सेनापति की दाता और सूम की तरह इकसार हो जाती है।"

आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार अलंकार को शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म स्वीकार करने पर अलंकारों के ३ भेद हो जाते हैं :—
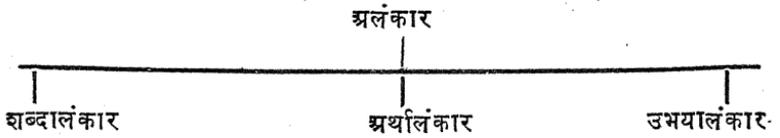
(१) **शब्दालंकार**—शब्दों के कारण जहाँ चमत्कार उत्पन्न होता है।

(२) **अर्थालंकार**—कथन में विशेष चमत्कार जब उत्पन्न किया जाता है।

(३) **उभयालंकार**—जहाँ शब्द और अर्थ दोनों में सौन्दर्य एवं चातुर्य चमत्कार होता है।

शब्दालंकार

शब्दों के कारण जहाँ चमत्कार हो अर्थात् केवल कुछ शब्दों के कारण काव्य में जहाँ सुन्दरता आती है वहाँ शब्दालंकार होता है।

१—अनुप्रास

अनुप्रास का अर्थ है अनु=बारबार + प्र=पास पास + आस= रखना या आना। जहाँ पर व्यंजनों की समता हो अथवा वर्णों या अक्षरों की आवृत्ति हो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। इसके ५ भेद हैं
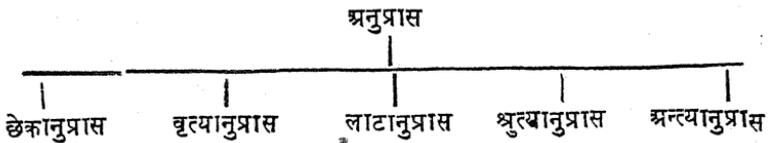
(क) **छेकानुप्रास**—जहाँ एक या अनेक वर्णों की आवृत्ति केवल एक बार हो जैसे:—

(i) बांधे द्वार काकरी, चतुर चित्त काकरी।
सो उम्मिर वृथाकरी, न राम की कथा करी॥

(ii) "कुन्द इन्दु सम देह उमा रमण करुणा अयन।
जाहि दीन पर नेह काहु कृपा मर्दन मयन॥

—तुलसीदास

यहां कुन्द-इन्दु में 'न्दु' की रमरा-करुणा में 'र' और 'ण' की करहु-कृपा में 'क' की मर्दन-मयन में 'म' और 'न' वर्णों की आवृत्ति एक बार हुई है।

(ख) वृत्यानुप्रास—वृत्ति के अनुसार जहाँ एक अक्षर या अनेक अक्षरों की आवृत्ति दो या दो से अधिक बार आवृत्ति होती है। वृत्ति ३ प्रकार की होती है (i) उपनागरिका (ii) परुषा (iii) कोमला।

कूलन में केलि में, कछारन में कुन्जन में,
क्यारिन में, कलिन, कलीन किलंकत है।
कहैं पद्माकर परागन में, पौन हूँ में,
पानन में, पीक में, पलासन पंगत है॥

१—उपनागरिका वृत्ति—माधुर्य गुण की व्यंजना करने वाले वर्ण टवर्ग को छोड़कर और सानुनासिक वर्ण जिस कविता में हों, जैसे:—

(१) "रघुनंद आनंद कंद कोशल चन्द दशरथ नंदनं।"

'न' और 'द' की आवृत्ति दो से अधिक बार की गई है।

"चन्दन चन्दन चाँदनी चन्द साल नव बाल।
चित ही चित चाहतु चतुर ये निदाघ के काल॥

यहाँ 'च' अक्षर की आवृत्ति अनेकों बार की गयी है।

२—परुषा वृत्ति—ओज गुण की व्यंजना करने वाले वर्णों की जहाँ दो या दो से अधिक बार आवृत्ति होती है, जैसे :—

(१) मुंड कटत कहुँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन।
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन॥

पहली पंक्ति में 'ट' और 'ड' अक्षर की आवृत्ति दो से अधिक बार है।

(२) चिग्घत दिग्गज दिघ स्निग्घ क्रुद्ध चाल चलत दल।
कच्छ अच्छ खल मलत सफल उच्छलत जलधि जल॥

उपर्युक्त पंक्तियो में ओज व्यंजक द्वित्व वर्णों का प्रयोग दो से अधिक बार है।

(३) कोमल वृत्यानुप्रास—जिस रचना में कोमल अक्षरों की प्रधानता हो विशेषतः य, र, ल, व, स, ह, अक्षरों की। उदाहरणार्थः—

(१) "फल फूलों से हैं लदी डालियाँ मेरी।
वे हरी पत्तलें भरी थालियाँ मेरी॥
मुनि बालायें हैं यहाँ आलियाँ मेरी।
तटिनी की लहरें और तालियाँ मेरी॥"

—गुप्त जी

'ल' और 'र' वर्ण की आवृत्ति दो से अधिक बार है।

(२) "सत्य सनेह सील सुख सागर॥"

(ग) **लाटानुप्रास**—जहाँ शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति हो किन्तु अभिप्राय में भिन्नता है, जैसे:—

(१) पराधीन को है नहीं स्वभिमान सुख स्वप्न।
पराधीन जो है नहीं स्वाभिमान सुख स्वप्न॥

अर्थात्—पराधीन व्यक्ति को स्वाभिमान का सुख-स्वप्न नहीं है और स्वाधीन व्यक्ति को स्वाभिमान का सुख-स्वप्न है।

(२) राम हृदय जाके बसै विपति सुमंगल ताहि।
राम हृदय जाके नहीं विपत्ति सुमंगल ताहि॥

अर्थात्—जिसके हृदय में राम का वास है उसके लिये विपत्ति भी सुमंगल बन जाती है और जिसके हृदय में राम का वास नहीं उसके लिये सुमंगल भी विपत्ति बन जाती है।

(घ) **श्रुत्यानुप्रास**—जहाँ तालु, कण्ठ, दन्त मूर्द्धा आदि स्थानों से उच्चरित होने वाले वर्णों की समता है, अर्थात मुख के भीतर किसी एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों की आवृत्ति हो।

कंठ से उच्चरित वर्ण—क ख ग घ ङ, अ आ ह आदि :
तालु से उच्चरित वर्ण— च छ ज झ ञ य श, इ ई आदि।
दन्त मे उच्चरित वर्ण—त थ द ध न ल स आदि।
मूर्द्धा से उच्चरित वर्ण—ट ठ ड ढ ण, र, ष, आदि।

उदाहरण :—

(१) खोलि इन नैननि निहारौं तौ निहारौ कहा,
सुखमा अभूत छाइ रही प्रति भौन भौन॥

'न' दन्त से उच्चरित वर्ण की आवृत्ति है।

(२) झाँक न झंझा के झोंके में झुक कर खुले झरोके से
'झ' वर्ण तालु स्थान का होने से श्रुत्यानुप्रास है

(ङ) अन्त्यानुप्रास—छन्द के अन्त में जब अनुप्रास होता है, जैसे:—

(१) मूक होहि वाचालु, पंगु चढे गिरिवर गहन।
जासू कृपा सु दयालु, द्रवहु सकल कलि मल दहन।।

(२) कुन्द इन्दु समदेहु, उमा रमा करुणा-श्रयन।
जाहि दीन पर नेहु, करहु कृपा मर्दन मयन।।

२—यमक ✓

जहाँ निरर्थक वर्णों और सार्थक वर्णों एवं शब्दों की पुनरावृत्ति हो किन्तु हर बार अर्थ भिन्न हो वहाँ यमक अलंकार होता है, जैसे:—

(१) ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कन्द मूल भोग करैं कंद मूल भोग करैं,
तीन बेर खाती ते वै तीन बेर खाती हैं।।
भूखन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग,
बिजन डोलाती ते वै बिजन डोलाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज वीर तेरे भास,
नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं।।

इस पद में मन्दर, कन्दमूल, बेर, भूखन, विजन, और नगन शब्दों की पुनरावृत्ति हुई है किन्तु अर्थ सभी का भिन्न है।

मन्दर—१—राजमहल २—पर्वत

कन्दमूल—१—मिठाई, स्वादिष्ट भोजन २—कन्द और जड़ें

बेर—१—बार २—बेर फल

भूखन—१—आभूषण २—भूख से

बिजन—१—पंखा २—निर्जन स्थान, जंगल

नगन—१—रत्न २—नंगी

(२) **भजन कह्यो तासो भज्या भज्यो न एकौ बार।**
दूरि भजन जासो कह्यो सो तै भज्या गँवार॥

'भजन' शब्द की आवृत्ति हुई है तथा दो अर्थ हैं।

१—भजन करना २—दूर भागना

(३) **माला फेरत जुग गया, गया न मनका फेर।**
करका मनका डारि कै, मनका मनका फेर॥

१—माला २—मनका

निरर्थक वर्णों की आवृत्ति, जैसे:—"कलोलकारी खग का कलोलना" में 'कलोल' निरर्थक शब्दांश है। इस अलंकार को अंग्रेजी में Pun कहते हैं तथा इसके सबसे अधिक भेद केशवदास ने अपनी 'कविप्रिया' में दिये हैं।

३—श्लेष

'श्लेष' शब्द श्लिष' धातु से बना हैं, अर्थ है चिपकना या मिलना। श्लिष्ट शब्द में एक से अधिक अर्थ चिपटे रहते हैं। इस प्रकार श्लेष अलंकार वहाँ होता है जहाँ एक शब्द का प्रयोग एक ही बार हो किन्तु उसका एक से अधिक अर्थ निकाला जा सके, जैसे :—

"पानी गये न ऊबरै मोती मानुष चून"

पानी के ३ अर्थ हैं; १—कान्ति २—मर्यादा, प्रतिष्ठा ३—जल श्लेष अलंकार के ३ भेद हैं :—

(क) अभंग श्लेष—जिसमें शब्दों के दो अर्थ करने के लिये उसका टुकड़ा न किया जावे,

(१) **जो पहाड़ को तोड़ फोड़कर बाहर कढ़ता,**
निर्मल जीवन वही सदा जो आगे बढ़ता॥

जीवन—१—जिन्दगी २—जल

(२) **कमला थिर न रहीम कह यह जानत सब कोय।**
पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय॥

(१) कमला—१—लक्ष्मी २—स्वछन्द स्त्री

(२) पुरुष पुरातन—१—विष्णु २—वृद्ध पुरुष

(ख) **सभंग श्लेष**—जिसमें शब्द के दो अर्थ करने के लिये टुकड़े किये जायँ, जैसे :—

(१) को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर ।

वृषभानुजा = वृषभ + अनुजा = १—राधा २—बैल की बहन

हलधर = हल + धर = १—बलराम २—बैल

(ग) **अर्थ श्लेष**—जहाँ शब्दों का अर्थ तो एक ही होता है परन्तु दो या दो से अधिक पक्षों पर घटित होता हैं, जैसे :—

जो जल बाढ़ै नाव में घर में बाढ़ै दाम ।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥ —गिरिधर कवि

यहाँ 'दोनों हाथ उलीचिये' शब्द दो भिन्न अर्थों में 'जल' और 'दाम' शब्दों के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

४—वक्रोक्ति

जहाँ किसी की कही हुई बात का सुनने वाला भिन्न ही अर्थ लगावे वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। भिन्न अर्थ की कल्पना दो प्रकार से होती है, श्लेष द्वारा और काकु द्वारा ।

उदाहरण—श्लेष वक्रोक्ति—

(१) गौरवशालिनी प्यारी हमारी सदा तुमहीं इक इष्ट अहौ ।
हौं न गऊ नहीं हौं अवशा अलिनी हू नहीं अस काहे कहौ ॥

अर्थात महादेव जी पार्वती से कहते हैं—हे महिमामयी गौरवशालिनी प्रिये तुम्हीं सदा मेरी इष्ट हो तो पार्वती जानबूझ कर दूसरा अर्थ लेकर कहती हैं कि तुम मुझे गौरवशालिनी क्यों कहते हो क्योंकि न तो मैं गौ हूँ न अवशा (स्वच्छंदचारिणी) और न आलिनी (भ्रमरी) ।

काकु वक्रोक्ति—

(१) मारो मत जाने दो ।

(अ) उसे छोड़ा न जावे अवश्य मारा जाय ।
उसे मारा न जाय अवश्य छोड़ दिया जावे ॥

(२) मैं सुकुमारि नाथ बन, जोगू ।
तुमहि उचित तप मो कहँ भोगू ॥

५—वीप्सा

जहाँ आदर, घृणा, ताकीद, पश्चाताप, आश्चर्य अथवा अन्य आकस्मिक भाव प्रकट करने के लिये एक शब्द कई बार कहा जाय। उदाहरण:—

आदर

(१) "राम राम रमु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।"

ताकीद

(२) "गुरुदेव जाता है समय, रक्षा करो। रक्षा करो।"

अथवा

(३) "बनि बनि बनि युवती चल
गनि गनि गनि डग देत।
धनि धनि धनि अँखियाँ सुछवि
सनि सनि सनि सुख लेत॥

(४) भग्न उर पर भूधर सा हाय।
सुमुखि धर देती है साकार।

यहाँ 'हाय' में पश्चाताप है।

६—प्रहेलिका

जहाँ प्रश्न करने पर उसका उत्तर भी कतिपय शब्दों के हेरफेर से उसी छन्द में दिया हो। यह शब्दगत और अर्थगत दोनों ही होता है।

उदाहरण—

(१) देखी एक अनोखी नारी, गुन उसमें इक सबसे भारी।
पढ़ी नहीं यह अचरज आवै, मरना जीना तुरत बतावै।

उत्तर—नाड़ी

(२) ऐसी मूरि बताव सखि, जेहि जानत सब कोय।
पीठि लगावत जासुरस, छाती सीरी होय॥
यह अर्थगत प्रहेलिका है। उत्तर है—पुत्र।

७—पुनरुक्तिवदाभास

जहाँ समानार्थी प्रतीत होने वाले शब्द प्रयुक्त हों किन्तु अर्थ अलग-अलग

हों। उदाहरण:—

(१) "समय जा रहा है और काल आ रहा,
सचमुच उलटा भाव भुवन में छा रहा।"

समय और काल समानार्थी हैं किन्तु काल का अर्थ यहाँ पर मृत्यु है।

(२) "पुनि फिरि राम निकट सो आई।
प्रभु लछिमन पहुँ बहुरि पठाई।।"

यहाँ पुनि और फिरि समानार्थी होते हुये भी फिरि का अन्वय 'आई' के साथ होने पर लौट आना अर्थ होता है।

८—पुनरुक्ति प्रकाश (Tantology)

जहाँ पर भावों में बल देने के लिए एक ही शब्द की दो बार आवृत्ति हो। जैसे :—

(i) विहग विहग
फिर चहक उठे ये पुंज पुंज
चिर सुभग सुभग

(ii) इससे उपजा यह नीरज सित,
कोमल कोमल लज्जित मीलित,
सौरभ सी लेकर मधुर पीर।

अर्थालंकार

अर्थालङ्कार का आधार कल्पना है जो समता, विरोध और तटस्थता पर आधारित है। इनके वर्गीकरण का आधार मनोवैज्ञानिक है जो हमारी बुद्धि साम्य, विरोध और सान्निध्य से प्रभावित होती हैं।

व्यास ने अग्निपुराण में कहा है" जो अर्थों को अलंकृत करते हैं वे अर्था-लङ्कार हैं। इनके बिना तो शब्द सौन्दर्य भी मनोहर नहीं होता।[1] इस प्रकार जिन शब्दों के द्वारा जिस अलङ्कार की सृष्टि होती है। उन शब्दों के बदलने पर भी वह अलङ्कार बना रहे तब वहाँ अर्थालङ्कार होता है।

---

१ अलंकरणमर्थानामर्थलंकार इष्यते
तं बिना शब्दसौंदर्यमपि नास्ति मनोहरम्। —अग्निपुराण

१—उपमा (Simile)

दोहा—रूप रंग गुन काहु को, काहु के अनुसार।
तासो उपमा कहत हैं, जे सुबुद्धि आगार॥

जब दो भिन्न वस्तुओं में एक ही साधारण धर्म का होना बताया जाय अर्थात् समानता बताई जाय तब उपमा अलंकार होता है।

इसके चार आवश्यक अंग हैं :—

(क) **उपमेय**—जिसकी उपमा दी जाती है अथवा जिसको किसी के समान कहा जाता है।

(ख) **उपमान**—उपमेय की जिससे समता की जाती है।

(ग) **वाचक शब्द**—वह शब्द जिसके द्वारा समानता बताई जावे।

(घ) **साधारण धर्म**—वह गुण जो उपमेय और उपमान दोनों में पाया जावे।

जैसे—"राधा रति के समान सुन्दर है।" इस वाक्य में राधा — उपमेय, रति—उपमान, समान —वाचक शब्द और सुन्दर—साधारण धर्म है।

उपमा अलंकार के मुख्य ३ भेद हैं :—

(१) **पूर्णोपमा**—जहाँ उपमा के चारों अंग—उपमेय, उपमान, वाचक शब्द और साधारण धर्म उपस्थित होते हैं वहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार होता है।

उदाहरण :—

"**नीलोत्पल के बीच** सजाये मोती से **आँसू के** बूँद"
४ २ ३ १

उदाहरण :—

१—उपमेय, २—उपपान, ३—वाचक, ४—साधारण धर्म।

रामकथा सुरधेनु सम सेवत **सब सुखदानि**
१ २ ३ ४

(२) **लुप्तोपमा**—जहाँ उपमा के चारों अंगों में से किसी एक, दो अथवा तीन अंगों का लोप हो वह लुप्तोपमा अलङ्कार होता है।

उदाहरण :—

'नील सरोरुह श्याम तरुण अरुण वारिज नयन' इस पंक्ति में नयन और शरीर उपमेय, नील सरोरुह और तरुण वारिज उपमान तथा अरुण और श्याम समान धर्म हैं, किन्तु वाचक शब्द 'सम' से समान' नहीं है।

'कुन्द इन्दु सम देह उमारमन करुना अयन' यहाँ शिवजी की देह उपमेय है, कुन्द इन्दु उपमान, सम वाचक शब्द किन्तु गौर वर्ण आदि साधारण धर्म लुप्त है।

(३) मालोपमा—जहाँ एक उपमेय के अनेक उपमान कहे जाते हैं।

उदाहरण :—

"उनमें क्या था श्वास मात्र ही था बस आता जाता।
ललित तंत्र सा चलित यंत्र सा, फलित मंत्र सा भाता॥
१ २ ३ गुप्त जी

उपर्युक्त पंक्तियों में साँस के आने जाने के ३ उपमान दिये गये हैं।

इन्द्र जिमि जंग पर बाड़व सुअंभ पर
रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन वारिवाह पर शम्भु रतिनाह पर
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दाव द्रुम दंड पर चीता मृग झुंड पर
भूषन वितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं॥
तेज तिमिर अंश पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों म्लेच्छ बंस पर सेर शिवराज हैं॥

इस पद में शिवाजी के बहुत से उपमान कह गये हैं।

२—रूपक

परिभाषा

उपमान अरु उपमेय तें वाचक धर्म मिटाय।
एकै कें आरोपिये सो रूपक कविराय॥

जहाँ उपमान का सारा रूप उपमेय में चित्रित हो और केवल सादृश्य ही

का भाव न हो वरन् एकरूपता के साथ ही अभेद का भाव भी हो वहाँ रूपक होता है। जहाँ उपमेय को उपमान में दिखाया जाय। जैसे कहा जाय—'सीता का मुख चन्द्र है।'

उदाहरण :—

हरि मुख पंकज, भ्रू धनुष लोचन खंजन मित्त।
अधर बिम्ब कुंडल मकर बसे रहत मो चित्त॥

यहाँ मुख पंकज, भ्रूवनुष, कुण्डल मकर, अधर-निम्ब को लेकर रूपक बाँधा गया है।

इस हृदय कमल का घिरना अलि-अलकों की उलझन में।
आँसू मरन्द का गिरना मिलना निःश्वास पवन में॥

—प्रसाद

इस में ४ रूपक हैं।

तरल मोती से नयन भरे।
मानस से ले उठे स्नेह घन, कसक विद्यु पलकों के हिमकण
सुधि स्वाति की छाँह पलक की सीपी में उतरे। महादेवी वर्मा

इसमें आँसू उपमेय पर तरल मोती उपमान का आरोप है।
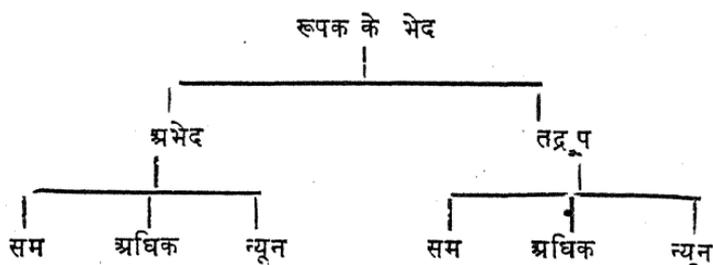
१—**अभेद रूपक**—जहाँ उपमान को ठीक उपमेय का ही रूप मानकर वर्णन किया जाता है।

(क) सम अभेद रूपक—उपमेय और उपमान में परस्पर कोई अधिकता या न्यूनता नहीं बताई जाती बल्कि ज्यों का त्यों आरोप होता है—उदाहरण:—

बीती विभावरी जागरी।

अम्बर पनघट में डुबो रही ताराघट ऊषा नागरी । —प्रसाद

इसमें अम्बर में पनघट का, तारा में घट का और ऊषा में नागरी का सम—अभेद रूप से आरोप किया गया है ।

(ख) अधिक अभेद रूपक—उपमेय के उपमान की अपेक्षा कुछ अधिकता बताई जाती है।

उदाहरण:—

"जब बिधु विमल तात जस तोरा, रघुवर किंकर कुमुद चकोरा।
उदित सदा अथरहिं कबहूँ ना, घटहिं न जग नभ दिन-दिन दूना ।।"

यहाँ यश नवीन चन्द्र का आरोप है । चन्द्रमा तो घटता-बढ़ता है किन्तु यश-रूपी चन्द्रमा सदा उदित रहता है ।

(ग) न्यून अभेद रूपक—उपमेय में उपमान की अपेक्षा कुछ न्यूनता या अभाव बताया जाय । उदाहरण :—

"बिना सरोवर के खिला देखो वदन सरोज ।
व्यहुलता मृदु मंजु है सुमन न पाया खोज ।

इसमें सुमन और सरोवर की न्यूनता वर्णित है ।

[२] तद्रूप रूपक—जहाँ उपमेय को उपमान का दूसरा रूप कहा जाता है अर्थात उपमेय को कुछ भेद रखकर उपमान बनाया जाता है । जैसे—"मुख दूसरा चन्द्रमा हैं ।"

(क) सम तद्रूप रूपक—जब उपमेय और उपमान में समता हो, जैसे:—

रच्यो विधाता दुहुन लै, सिगरी सोभा साज ।
तू सुन्दर रति दूसरी, यह दूजो सुरराज ॥

(ख) अधिक तद्रूप रूपक—जब उपमेय में उपमान की अपेक्षा कुछ अधिक गुण बढ़ा कर कहे जावें ।

उदाहरण:—

मुख-ससि वा ससि तें अधिक, उदित ज्योति दिनरात ।"

(ग) न्यून तद्रूप रूपक—जब उपमेय में उपमान से कुछ गुण कम होने दोनों को एकरूप कहा जाय ।

९—स्मरण

दोहा—कछु लखि, कछु सुनि, सोचि कुछ, सुधि आवै कछु खास ।
सुमिरन ताको भाखिये, बुधिवर सहित हुलास ॥

पूर्वानुभूत वस्तु के सदृश्य किसी वस्तु के देखने, सुनने पर उसकी स्मृति करने को स्मरण अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण :—

(१) खंजन जुग लखि रामजू, कहत कठिन यह हीय ।
हाय किते मेरी गयी । खंजन नयनी सीय ॥

(२) छू देती है मृदुपवन जो पास आ गात मेरा ।
तो हो जाती है परम सुधि श्याम प्यारे करों की ॥

अलंकार

१०—परिणाम

जब उपमान स्वयं किसी कार्य करने में असमर्थ होने के कारण उपमेय से अभिन्नता स्थापित कर अर्थात सहायता से कार्य को करने में समर्थ होता है तब वहाँ परिणाम अलंकार होता है । जैसे:—

(१) मेरा शिशु संसार वह दूध पिये परिपुष्ट हो ।
पानी के ही पात्र तुम प्रभो रुष्ट वा तुष्ट हो ।

यहाँ संसार उपमान जब तक उपमेय (शिशु) से एकरूप अथवा अभिन्न नहीं होता तब तक उपमान का दूध पीना कार्यपूर्ण नहीं होता ।

(२) इस अपार संसार बिकट में विषम-विषम वन गहन महा ।
किया बहुत ही भ्रमण किन्तु हा, मिला नहीं विश्राम यहाँ ॥
होकर श्रान्त भाग्यवश अब मैं हस्तिमाल के शरण हुआ ।
हरण करेगा ताप वही रहता, यमुना तट स्फुरण हुआ ॥

तमाल वृक्ष (उपमान) के द्वारा संसार ताप हरण का कार्य नहीं हो सकता अतएव तमाल हरि (उपमेय) की सहायता से संसार अपहरण में समर्थ हो सकता है । इसलिये परिणाम अलंकार हुआ ।

११—दृष्टान्त

जहाँ पहले एक बात कह कर उसको स्पष्ट करने के लिये उससे मिलती जुलती दूसरी बात कही जाय, जैसे :—

(१) जपत एक हरिनाम के पातक कोटि बिलाय ।
लघु चिनकारी एक ते घास ढेर जरि जाय ॥

(२) रहिमन अँसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रकट करेइ ।
जाहि निकारी गेह तें, कस न भेद कह देइ ॥

१२—काव्यलिंग

काव्यलिंग में दो शब्द हैं, काव्य = काव्य का अर्थ + लिंग = पहिचान करने वाला चिन्हा अतएव अर्थ हुआ काव्य में कही हुयी बात की ठीक पहिचान कराने वाला चिन्ह । जहाँ किसी वाक्य या पद के अर्थ(भाव) में ही किसी कार्य का कारण कहा जावे वहाँ काव्यलिग अलंकार होता है । भिखारी-दास ने इसके लक्षण में कहा है—

जहँ सुभाव के हेतु को, कै प्रमान जो कोइ ।
करै समर्थन जुक्ति बल, काव्यलिंग है सोइ ॥

उदाहरण:—

कनक कनक तें सौगुनो, मादकता अधिकाय ।
वह खाये बौरात है, यह पाये बौराय ॥

धतूरे की अपेक्षा सोना सौ गुना अधिक मादक होता है, उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ में इस कथन को सिद्ध किया है ।

(२) करौ कुवत जग कुटिलता, तजौं न दीनदयाल ।
दुखी होहुगे सरलहिय, बसत त्रिभंगी लाल ॥

अपनी कुटिलता न छोड़ने का कारण कवि पद की दूसरी पंक्ति में कृष्ण को त्रिभंगीलाल कहकर समर्थन करता है कि, हे कृष्ण ! चूँकि तुम त्रिभंगी हो इसीलिये मैं अपने हृदय को कुटिल (टेढ़ा) बनाये हूँ ताकि तुम्हें निवास करने में कष्ट न हो ।

(३) स्याम गौर किमि कहौं बखानी।
गिरा नयन अनयन बिनु बानी ॥

यहाँ वर्णन न कर सकने का कारण उत्तरार्द्ध में अच्छा कहा गया है।

१३—प्रतिवस्तूपमा

दोहा—जुग वाक्यन को होते जहँ, एक धर्म बखान।
भूषन प्रतिवस्तूपमा ताहि कहै मतिमान ॥

जहाँ उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य समान हों तथा दोनों का एक ही धर्म दो समानार्थक शब्दों द्वारा व्यक्त किया जावे। इसमें ३ बातें आवश्यक होती हैं:—

(१) उपमेय और उपमान स्वरूप दो वाक्य।

(२) दोनों वाक्यों में एक ही धर्म का कथन।

(३) प्रथम वाक्य में जिन शब्दों द्वारा धर्म का कथन किया जाता है। दूसरे वाक्य में उससे भिन्न शब्द या शब्दों द्वारा धर्म का कथन किया जाता है।

उदाहरणः—

(१) चटक न छाँड़त घटत हू सज्जन नेह गम्भीर।
फीको परै न बरु फटै रंग्यो चोल रंग चीर ॥

इस दोहे में पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य, उत्तरार्द्ध में उपमान वाक्य है 'कम न होना' दोनों का धर्म है जो 'चटक न छाँड़त' और 'फीको परै न' दो एकार्थ-वाची शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है।

(२) तिनही सोहात न अवध बधावा।
चोरहि चाँदनि राति न भावा ॥

पूर्वार्द्ध वाक्य उपमेय, उत्तरार्द्ध उपमान है, दोनों का एक ही धर्म है जो 'सोहात न' और 'न भावा' शब्दों द्वारा व्यक्त है।

१४—अर्थान्तरन्यास

जहाँ किसी सामान्य बात का विशेष बात से समर्थन किया जाये अथवा किसी विशेष बात का समर्थन कोई सामान्य बात के द्वारा किया जाता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

उदाहरण :—

(१) सबै सहायक सबल को, कोइ न निबल सहाय ।
पवन जगावत आग को, दीपहि देत बुझाय ॥

प्रथम पंक्ति में सामान्य कथन का समर्थन द्वितीय पंक्ति में विशेष कथन द्वारा किया गया है ।

(२) कौन बड़ाई उदधि मिलि गंग नाम को धीम ।
केहि की महिमा नहिं घटी पर घट गये रहीम ॥

(३) नीचे को न कभी स्वमस्तक पर चढ़ाना चाहिये ।
स्नेह करके मन नहीं उसका बढ़ाना चाहिये ॥
तेल इत्रों से उन्हें यद्यपि बढ़ाते हैं सभी ।
केश तो भी वक्रता को छोड़ते हैं क्या कभी ॥

सामान्य द्वारा सामान्य का समर्थन है ।

१५—तुल्ययोगिता

दोहा—क्रिया और गुण करि जहाँ धर्म एकता होय ।
चतुर चतुर बिधि कहत है तुल्ययोगिता सोय ॥

जहाँ अनेक उपमेयों एवं उपमानों के एक ही धर्म, गुण अथवा क्रियादि का वर्णन किया जावे । इसके भी तीन भेद होते हैं :—

(अ) प्रथम तुल्ययोगिता—जहाँ अनेक उपमेयों का एक धर्म कथन किया जावे, जैसे :—

"कहै यहै श्रुति, सुमृति औ यहै सयाने लोग ।
तीन दबावत निसक ही पातक राजा रोग ॥

(ब) द्वितीय तुल्ययोगिता—जहाँ हित और अहित में समान वृत्ति दिखलाई जावे, जैसे :—

"सज्जन जन को रहत सम, उदय अस्त में चित्त ।
अरुण यथा रवि उदय में, तथा अस्त में नित्त ॥"

(स) तृतीय तुल्योगिता—उपमेय की उत्कृष्ट गुणवालों के साथ गणना की जाय, जैसे :—

तुम विधि, बुध, विधु, विबुधपति, विधुधर बुद्धि निधान ।
तुमहि भूप हौ कल्पतरु, गुननिधि चतुर सुजान ॥

१६—परिकर

जब प्रस्तुत का वर्णन करने के लिये उसके साथ ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया जाय, जो साभिप्राय हो अथवा कोई ऐसा विशेषण लाया जाय जिसका सम्बन्ध उस पद की क्रिया से हो अर्थात् वक्ता का अभिप्राय विशेषण से अभिव्यक्त हो वहाँ परिकर अलंकार होता है ।

उदाहरणः—

(१) किन्तु विरह वृश्चिक ने आकर, अब यह मुझको घेरा ।
गुणी गारुड़िक दूर खड़ा तू, कौतुक देखत मेरा ॥

अर्थात् गारुड़िक (तंत्र मंत्र विशेषण) विशेषण से यह व्यक्त होता है, कि विरह वृश्चिक (बिच्छू) के दर्शन से मुक्त करने में तू ही समर्थ है ।

(२) जानो न नेकु विथा पर की,
बलिहारी तऊ पै सुजान कहावत ।

यहाँ सुजान का सम्बन्ध 'कहावत' क्रिया से है ।

१७—असंगति

दोहा—कारण कारज को जहाँ लखो विरोधाभास ।
ताहि असंगति जानिये, कवि जन सहित हुलास ॥

असंगति अलंकार में कारण और कार्य की स्वभाविक संगति का त्याग वर्णन किया जाता है । इसके ३ भेद हैं :—

(अ) प्रथम असंगति – कार्य और कारण पृथक्-पृथक् स्थान पर वर्णित हो, जैसे :—

मेरे जीवन की उलझन, बिखरी थी उनकी अलकें ।
पीली मधु मदिरा किसने, की बन्द हमारी पलकें ॥

(ब) द्वितीय असंगति – जो कार्य जिस उचित स्थान पर करने के योग्य हो उसे वहाँ न करके दूसरे स्थान पर किया जाय, जैसे :—

(१) पहिरि कंठ बिच किंकिनी, कस्यो कमर बिच हार ।

करधनी कमर के बजाय कण्ठ में पहन ली और हार गले के स्थान पर कमर में पहन लिया, इस प्रकार करणीय कार्य उचित स्थान पर नहीं किया गया।

(२) "पायन की सुधि भूल गयी,
अकुलाय महावर आँखन दीन्हो।"

(स) तृतीय संगति—मतिराम कहते हैं "करन लगै जो काज कछु, ताते करै विरुद्ध" अर्थात् जिस कार्य को करने की प्रवृत्ति हो उसके विरुद्ध कार्य किया जावे, जैसे :—

(१) "मोह मिटावन हेतु प्रभु, लीन्हों तुम अवतार।
उलटो मोहन रूप धरि। मोही सब ब्रज नारि ॥"

विश्व का मोह मिटाने के लिये अवतार लेने वाले कृष्ण ब्रजनारियों को मोहने लगे।

(२) "आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास।"

१८—स्वाभावोक्ति

जाको जैसो रूप गुन वर्णत ताही साज।
सुभावोक्ति भूषन तहाँ कहैं सबै कविराज ॥

जहाँ किसी वस्तु का यथातथ्य वर्णन कर दिया जावे; जैसे बालक आदि की स्वाभाविक चेष्टा आदि का चमत्कारिक वर्णन। जैसे :—

(१) धूसरि धूरि भरे तनु आये, भूपति बिहँसि गोद बैठाये ॥
(२) रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाहि पर वचन न जाई ॥
कुल का स्वाभाविक वर्णन है।
(३) चढ़कर गिरकर फिर उठकर कहता तू अमर कहानी।
गिरि के अंचल में करता कूजित कल्याणी वाणी ॥
झरने का स्वाभाविक वर्णन है।

१९—प्रत्यनीक

शत्रु को जीतने में असमर्थ होने के कारण उसके पक्ष वालों से वैर निकालने को प्रत्यनीक अलंकार कहते हैं।

उदाहरण:—

(१) तेज मंद मन्द ने कियो बस न चल्यो तेहि संग।
दुहुँन नाम एकै समुझि जारत दिया पतंग।

अर्थात् सूर्य के प्रकाश के सामने दीपक का प्रकाश मन्द पड़ जाता है और उसका कोई वश नही चलता तभी वह पतंग (सूर्य) और पतिंगा को एक नाम समझकर जलाता है।

(२) सस्मित बोला असुर पुच्छ प्रिय है वानर को।
उसे जला दो अभी दिखावे जाकर नर को॥
तब लज्जित हो तपसी स्वयं या डर कर भग जायगा।
या वह मेरे कर निधन हो यम के कर लग जायगा॥

यहाँ राम से बैर भावना की पूर्ति में असमर्थ रावण निजी दूत हनूमान से वैर निकालता है।

२०——समासोक्ति (Model Metaphor)

जहँ प्रस्तुत में होत है अप्रस्तुत को भान।
समासोक्ति तेहि कहत हैं कविजन परम सुजान॥

जब किसी कथन में कवि के इच्छित अर्थ के अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ भी आसमान होता है तब उस कथन में समासोक्ति अलंकार माना जाता है। इसमें श्लेष शब्दों का भी अनायास प्रयोग हो जाता है। जैसे:—

(१) लता नवल तनु अंग जाति जरी जीवन बिना।
कहा सिख्यो यह ढंग, तरुन अरुन निरदै निरखु॥

इस सोरठे में प्रचण्ड सूर्य के ताप के कारण कोमल लता के सूख जाने का वर्णन है किन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर विरहिणी नायिका की दशा का भी आभास मिलता है।

(२) तुही साँच द्विजराज है तेरी कला प्रमान।
तोपै सिव किरपा करी, जानत सकल जहान॥

कवि का इच्छित तात्पर्य चन्द्रमा की प्रशंसा है किन्तु 'द्विजराज' और 'शिव' शब्द श्लिष्ट होने के कारण भूषण कवि और शिवाजी के व्यवहार का भान होता है।

२१—निदर्शना

दोहा—सरिस वाक्य जुग के अरथ करिये एक अरोप ।
भूषण ताहि निदर्शना, कहत बुद्धि दै ओप ॥

विभिन्नता रहते हुए भी जहाँ दो वाक्यों के अर्थ में समता भाव सूचक ऐसा आरोप किया जावे कि दोनों एकसे जान पड़ें । वहाँ निदर्शना अलंकार होता है । प्राचीन आचार्यों ने दो, और नवीन आचार्यों में किसी ने ३ और किसी ने ६ भेद माने हैं । किन्तु प्रमुख ३ भेद हैं ।

(अ) प्रथम निदर्शना

जहाँ वाक्य या वस्तु में असम्भव सम्बन्ध के लिए उपमा की कल्पना की जाय । जैसेः—

(१) न्यालाधिप गहियों चहैं दावानल कर लीन्ह ।
हालाहल पीयों चहैं जे चहैं खल बस कीन्ह ॥

अर्थात् दुर्जनों को वश में करने की इच्छा ३ असम्भव उपमाओं से तुलना की जाती है—सर्पराज को पकड़ने, प्रचण्ड अग्नि को हथेली पर रखने और जहर को पीने की इच्छा के समान ।

(२) सन्धि का प्रश्न तो उठता ही नहीं—सोच लें,
देशद्रोहियों से सन्धि ! यह आत्मघात है ।
चुप बैठ जाना द्रोहियों से सन्धि करके,
आँगन में सोना है लगाके आग घर में । —वियोगीहरि :

उपर्युक्त पद में ३री और ४थी पंक्ति उपमेय और उपमान वाक्य है । दोनों में असम्भव सम्भव दर्शाया गया है । द्रोहियों से सन्धि करके चुप हो जाना और घर में आग लगाकर सोना ।

(ब) द्वितीय निदर्शना

अपने स्वरूप और उसके कारण का सम्बन्ध अपनी सद्-असद् क्रिया द्वारा सद्-असद् का बोध कराना ।

उदाहरण:—

पास पास ये उभय वृक्ष देखो अहा।
फूल रहा है एक दूसरा झड़ रहा।
है ऐसी ही दशा प्रिये नर लोक की।
कहीं हर्ष की बात कहीं पर शोक की। —गुप्त

यहाँ पर वृक्ष और फूलने और झड़ने की क्रिया से संसार के सुख-दुख का निर्देश किया गया है।

(स) तृतीय निदर्शना

जहाँ उपमेय का गुण उपमान में अथवा उपमान का गुण उपमेय में आरोपित हो वहाँ तृतीय निदर्शना होता है। जैसे:—

(१) अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा।
सिय मुसखि भए नैन चकोरा॥

(२) तुव वचनन की मधुरता रही सुधा मँह छाय।
चार चमक चल नैन की, मीनन लई छिनाय॥

उत्तर

चमत्कारपूर्ण उत्तर होने से उत्तर अलंकार होता है।

यह दो प्रकार का होता है:

१—**प्रथम उत्तर**—जहाँ उत्तर के सुनने मात्र से ही प्रश्न का अनुमान कर लिया जाय अथवा अनुमानित प्रश्न का संदिग्ध या सम्भाव्य उत्तर दिया जाय। जैसे:

हे अनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो मम विचार न सह सकता।
हे विराट हे विश्वदेव तुम कुछ हो ऐसा होता भास॥

२—**द्वितीय उत्तर**—वाक्य में ही प्रश्न का उत्तर अथवा अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया जाना द्वितीय उत्तर अलंकार कहते हैं। इसके अन्य नाम प्रश्नोत्तर और चित्रोत्तर अलंकार भी हैं। जैसे:—

(१) सरद चाँद की चाँदनी को कहिये प्रतिकूल?
सरद चाँद की चाँदनी कोक हिये प्रतिकूल।

यहाँ पूँछा गया, शरद् की चांदनी किसे प्रतिकूल है तो दूसरी पंक्ति में उत्तर है 'कोक के हिय' को।

(२) पान सड़ा घोड़ा अड़ा क्यों कहिये ? फेरे विना।
गधा दुखी ब्राह्मण दुखी क्यों कहिये ? लोटे बिना॥

दोनों पंक्तियों में दोनों का उत्तर एक ही हैं। इसे प्रश्नोत्तरालंकार अथवा अन्तर्लोपिका भी कहते हैं।

२२—विरोधाभास

आचार्य केशव ने इसकी परिभाषा यों दी है।

"बरनत लगै विरोध सों अर्थ सबै अविरोध।
प्रगट विरोधाभास यह, समुझत सबै सुबोध॥"

जहाँ वास्तविकता में विरोध न हो फिर भी वर्णन में विरोध का आभास मिले वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है। विरोध जाति, गुण क्रिया और द्रव्य के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

उदाहरण :—

(१) "या अनुरागी चित्त की गति समझै नहिं कोइ।
ज्यों ज्यों बूड़े श्याम रंग त्यों त्यों उज्जवल होइ॥"

यहाँ श्याम रंग से उज्जवल रंग की उत्पत्ति में विरोध का आभास मिलता है लेकिन 'श्याम रंग' का अर्थ श्रीकृष्ण, 'उज्जवल' का अर्थ पवित्र, स्वच्छ ले लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है। यहाँ गुण का गुण, के साथ विरोध है।

(२) अपने दिन रात हुये उनके क्षण ही भर में छवि देख यहाँ।
सुलगी अनुराग की आग वहाँ जल से भरपूर तड़ाग जहाँ॥

आग और पानी विरोधी वस्तुओं के एकत्रीकरण की स्थिति द्वारा विरोध का आभास मिलता है। यहाँ द्रव्य का द्रव्य से विरोध है।

(३) "मृदुल मधुर हू खल वचन दाहक होतु बिसेस॥
जदपि कठिन तउ सुख करत सज्जन वचन हमेस॥"

मृदुल गुण का दाह क्रिया के साथ और कठिन गुण का सुखकरण क्रिया के साथ विरोधाभास है।

२३—सूक्ष्म

जहाँ किसी संकेत, चेष्टा, आकार आदि किसी युक्ति से किसी रहस्य को सूचित किया जाय अर्थात् किसी गुप्त मनोभाव को संकेत, अंग चेष्टा आदि के द्वारा व्यक्त किया जाय तब वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है।

उदाहरण :—

(१) सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
विहँसे करुणा ऐन चितै जानकी लखन तन॥

(२) लख्यो भीम हरि ओर जबी थरत जरासुत साथ।
चीरि दिखाओ कृष्ण ने ले तिनका निज हाथ॥

(३) बिनती रति विपरीत की, करी परसि पिया पाय।
हँसि अनबोले ही दियो ऊत्तर दियो बुलाय॥

निदर्शना का उदाहरण

(१) युद्ध जीतना जो चाह वे है तुमसे बैर बढ़ाकर।
जीवित रहने की इच्छा वे करते हैं विष खाकर॥

(२) जे अस भगतिजानि परिहरहीं,
केवल ज्ञान हेतु सुभ करहीं।
ते जर काम धेनु गृह त्यागी,
खोजत आक फिरहि पत लागी॥

२४—उदात्त

जहाँ किसी उपलक्षण के द्वारा किसी के धन या महत्ता का वर्णन किया जाय वहाँ उदात्त अलंकार होता है। जैसे :—

निम्न पंक्तियों में उज्जैन की श्री समृद्धि का चित्रण है—

(१) मुक्तमाला अगणित जहाँ हैं घनी शंख सीपी,
दूर्वा जैसी विलसित मणी रत्न वैदूर्य की भी।
मूँगे के हैं कन धन लगे देख बाजार शोभा,
जी में आता अब उदधि में वारि ही शेष होगा॥

(२) महामहिमतम विष्णु लोक को तज, जो था शोभा भंडार।
वन विहार हित और देखने दिव्य अयोध्या का शृंगार॥
रवि कुल कमल दिवाकर होकर किया विष्णु ने यहीं निवास।
रावण वध मिसमात्र क्योंकि था उनका भ्रभंग विलास॥

भारत देश के इस वर्णन में भगवान विष्णु के अवतार श्रीराम का अंग और महत्ता का वर्णन है।

आचार्य दण्डी ने अपने ग्रन्थ काव्यादर्श में इस अलंकार की व्याख्या इस प्रकार की है।

आशयस्यविभूतेर्वा यन्महत्वमनुत्तमम्।
उदात्तं नाम तं प्रोहुरलंकारं मनीषिणः॥

अर्थात् अभिप्राय अथवा ऐश्वर्य का जो अलौकिक महत्व पूर्णवर्णन किया जाता है, उसको विद्वान लोग उदात्त नामक अलंकार कहते हैं।

२५—विभावना

"विभावयन्ति कारणान्तर मस्थामिति विभावना"

अर्थात् विभावना अलंकार में कारणान्तर की कल्पना की जाती है। काव्य प्रकाश में विभावना की परिभाषा देते हुये कहा है :

"क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फल व्यक्तिर्विभावना"

अर्थात् जहाँ किसी क्रिया के निषेध में भी फल को व्यक्त किया जावे वहाँ विभावना मानी जाती है। इस प्रकार सरल शब्दों में विभावना अलंकार उसे कहते हैं; जहाँ कारण के बिना ही कार्य का प्रतिपादन होना दिखलाया जावे।

"कारण बिनही होत है, कारज कौनो सिद्ध।"

साहित्य दर्पण में दो भेद १—उक्त निमित्ता और २—अनुक्तनिमित्ता किये गये हैं, काव्य प्रकाश में कोई भी भेद उल्लिखित नहीं हैं। अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द में ६ भेद दिये हैं जो आज भी सर्वमान्य है।

(क) प्रथम विभावना—जब कारण न होने पर भी कार्य हो जावें। जैसे :—

(१) बिनु पद चलै सुनै बिन काना।
कर बिनु कर्म करै विधि नाना।"

(२) बिन करताल पखावज बाजै अणहद की झंकार रे !
बिन सुन राग छतीसों गावै रोम-रोम रंग सार रे ॥

(ख) **द्वितीय विभावना**—कारण के अपूर्ण होने पर भी कार्य की पूर्ति हो जावे। जैसे:—

"तासो की सिवा जी जेहि दो सौ आदमी सों।
जीत्यों जंग सरदार सौ हजार असवार को ॥"

अर्थात् शिवाजी ने दो सौ आदमियों की सहायता से सौ हजार सवारों के नायक सरदार को जीत लिया। इसमें दो सौ आदमी कारण हैं, विजय की क्रिया के जो अपर्याप्त हैं।

(ग) **तृतीय विभावना**—जहाँ प्रतिबन्ध या रुकावट के होते हुये भी कार्य हो जाय। जैसे :—

(१) ज्यों-ज्यों लज्जावश वह थी रोकती वारिधारा।
त्यों-त्यों आँसू अधिकतर थे लोचनों मध्य आते ॥"

इसमें लाजवश रोकने पर भी आंसू उमड़ आना दिखाया है।

(२) जदपि बसे हरि जाय उत, आवन पावत नाहिं।
मिलत मोहि नित तदपि सखि, प्रतिदिन सपने माँहि ॥

(घ) **चतुर्थ विभावना**—जहाँ किसी वस्तु की सिद्धि उसका कारण न होने पर भी होना वर्णित हो। जैसे:—

(१) निकसी नीरज नाल ते चंपक कलिका पांच।"
(२) जो हिन्दूपति तेग तुव पानिप भरी सदाहिं।
अचरज याकी आँच सों अरिगन जरि-जरि जाहिं ॥

यहाँ शान चढ़ी तलवार की आंच से शत्रुओं का जलना अकारण से कार्य कहा गया है।

(च) **पंचम विभावना**—जहाँ विरुद्ध कारण से कार्य का होना वर्णित हो। जैसे :—

(१) "चुभते ही तेरा अरुण बान।
बहते कन-कन से फूट-फूट मधु के निर्झर से सजल गान।"

वाण के लगने से गान का फूटना विरुद्ध कारण से कार्य का होना है।

(२) "कारे-कारे घन आकर अंगारे बरसाते हैं।"

(३) "शीतल चन्द अगिन सम लागत।"

(छ) षष्ठ विभावना—जब कार्य से कारण की उत्पत्ति हो। जैसे :—

(१) "तेरो मुख अरविन्द से बरसत सुषमा नीर।"

'कमल' कार्य 'नीर' कारण से उत्पन्न हुआ है।

(२) "कर कल्पद्रुम सों कियौ जस समुद्र उत्पन्न।"

कल्पद्रुम का कारण समुद्र होता है किन्तु यहाँ समुद्र की उत्पत्ति कल्पद्रुम में कही गई।

(३) ललन चलन की बात सुनि, दहक-दहक हिय जात।
दृग सरोज से निकसि अलि, सलिल प्रवाह वहात॥

२६—विशेषोक्ति

प्रबल कारण के होते हुये भी कार्य की सिद्धि न होने के वर्णन को विशेषोक्ति कहते हैं।

उदाहरण :—

(१) "आली इन नयनन को उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहें, तऊ न प्यास बुझाय।"

(२) "दौलत इन्द्र समान बढ़ी पै खुमान को नेक गुमान न आयो।"

(३) देख रहा है प्रतिपल अगणित जन प्रत्यक्ष मृत्युमुखगत भी।
रागान्ध चित्त भी होता नहीं है यह विषय बिमुख कभी॥

सदैव संसार को मृत्यु के मुख में प्रवेश करते देखकर भी विषयों से विरक्त न होकर राग में अन्धा चित्त विषयों में ही लीन रहता है। प्रबल कारण के होते हुये भी कार्य की सिद्धि नहीं होती।

२७—विषम (In congrusty)

जहाँ विषम अर्थात् बेमेल घटना का वर्णन हो अर्थात जब ऐसी वस्तुओं का एक साथ रहना वर्णित हो जिनका संम्बध अनुचित हो तो वहाँ विषम अलंकार होता है। जैसे :—

'कहलाने एकत बसत अहिमूर मृग बाघ'

इसके ३ भेद हैं।

(१) **प्रथम विषम**—जहाँ एक दूसरे के विरुद्ध होने के कारण सम्बन्ध न घटे :—

(१) कहाँ मेघ औ हँस ! किन्तु तुम भेज चुके संदेश अजान।
तुड़ा मरालो से मंदर धनु जुड़ा चुके तुम अगणित प्राण॥

यहाँ मेघ द्वारा संदेश भेजना, मरालो से विशाल धनुष तुड़वाना सम्बन्ध की विषमता व्यक्त करता है।

(२) **द्वितीय विषम**—जहाँ क्रिया के विपरीत फल की प्राप्ति होती है:—

(१) नहीं तत्वतः कुछ भी मेरे आगे जीना मरना।
किन्तु आत्मघाती होना है घात किसी का करना॥

यहाँ किसी पर घात करने की क्रिया से आत्मघाती होना विपरीत फल की प्राप्ति का द्योतक है।

(३) **तृतीय विषम**—कार्य और कारण के गुणों और क्रियाओं का एक दूसरे के विरुद्ध वर्णन करना —

(१) दीप सिखा रंगपीत ते धूम कढ़त अतिश्याम।
सेत सुजस छाये जगत प्रगट आपते श्याम॥

यहाँ पीत वर्ण से श्याम वर्ण और श्याम से श्वेत वर्ण होना कार्य कारण की विषमता है।

२८—व्याजोक्ति

जहाँ किसी खुली बात अथवा गुप्त भेद या हास्य को छिपाने के लिये कोई बहाना किया जावे वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण:—

(१) ललन चलन सुन पलकु में अँसुवा झलके आय।
भई लखान न सखिन हूँ, झूठे ही जमुहाय॥

अश्रु आने पर जँभाई लेकर छिपाया गया है ताकि हृदय का सात्विक करुणा भाव व्यक्त न हो सके।

(२) बैठी हुती ब्रज की बनितान में आइ गयो कहूँ मोहन लाल है।
ह्वै गई देखते मोद मयी सुनिहाल भई वह बाल रसाल है॥

रोम उठे तन काँप्यो कछू मुस्क्यात लख्यौ सखियान को जाल है।
सीरी ब्यारि बहि सजनी उठी यों कहि कै उन ओढ्यो जु साल है ॥

कृष्ण को देखकर गोपियों में रोमांच, कम्प आदि सात्विक भाव उठे थे; उन्हें ठंडी हवा बहने के बहाने शाल ओढ़ कर छिपा लिया।

२९—अन्योक्ति

जहाँ प्रस्तुत को न कहकर उसके समान दशा वाले अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है अथवा जहाँ किसी दूसरे व्यक्ति की बात किसी दूसरे व्यक्ति के ऊपर ढालकर, यद्यपि वह उस पर लागू नहीं होती, कही जाती है। भिखारीदास के शब्दों में "अन्य उक्ति औरहि कहै, औरहि के सिर डारि"। इसी को सारूप्य निबन्धना अलंकार भी कहते हैं।

उदाहरण :—

(१) भयो सरित पति सालिपति, अरु रतनंनि की खानि।
कहा बड़ाई समुंदर की, जु पै न पीजति पानि ॥

यहाँ समुद्र पर ढालकर धनी व्यक्ति को सम्बोधित किया गया है, कि धनी तो बहुत बड़ा है किन्तु उससे किसी को लाभ नहीं।

(२) काल कराल परै कितनो पै,
मराल न ताकत तुच्छ तलैया।

हंस पर ढालकर कहा गया है कि विवेकी पुरुष कष्टों के बीच भी अनुचित कार्य की ओर प्रवृत्त नहीं होता।

(३) नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास इहि काल।
अलि कलि ही तैं बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥

(४) दस दिन आदरु पाइ के करले आपु बखान।
जौ लगि काग सराध पख, तौ लगि तो सनमान ॥

गोसांई दीनदयाल गिरि ने इस अलंकार का प्रयोग सब से अधिक किया है।

३०—सहोक्ति

जहाँ एक ही शब्द या पद दो अर्थों का बोधक हो अर्थात उसका अन्वय

दो भिन्न अर्थवान पदों के साथ चरितार्थ होता है। इस अलंकार में संग साथ, सह समेत, सहित, युक्त आदि वाचक शब्दों का प्रयोग होता है। यह अलंकार बहुत कुछ व्याकरण से संबंध रखता है।

(१) त्रिभुवन जय समेत वैदेही, बिनहिं बिचार वरै हठि तेही।

(२) मह मोहन सों मन मिल्यो, इन नैनन के संग।

(३) तुव सिर अरु अरि माथ नृप, भूमि परत इक साथ।

३१—परिकरांकुर

जहाँ अभिप्राय के साथ विशेषणों से विशेष्य का कथन होता है वहाँ परिकर या परिकरांकुर अलंकार होता है।

उदाहरण:—

(१) जमकरि मुँह तरहरि परयो यह धरहरि चितलाय।
विषय तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाय॥

यमरूपी हाथी को मारने के लिए नरसिंह ही समर्थ है, अतएव यहाँ नरहरि शब्द साभिप्राय है।

(२) वामा भामा कामिनी, कहि बोलो प्रानेस।
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत विदेस॥

यहाँ 'वामा' और 'भामा' शब्द साभिप्राय है। पावस ऋतु में विदेश जाने को उद्यत नायक के प्रति नायिका कहती है कि ऐसे समय आपको मुझे प्यारी कहते लज्जा नहीं आती क्योंकि यदि मैं प्यारो ही होती तो आप विदेश ही क्यों जाते, अतः इस समय तो मुझे वामा अर्थात कुटिल और भामा कोप करने वाली ही कहिये।

(३) बदन मयंक ताप त्रयमोचन।

यहाँ मयंक शब्द साभिप्राय है अर्थात चन्द्रमा के समान सुन्दर और चन्द्रमा के समान शीतलता प्रदान करने वाला।

३२—परिवृत्ति

वस्तु का सम और असम के साथ अदल बदल को परिवृत्ति अलंकार कहते हैं। परिवृत्ति का तात्पर्य है विनिमया या अदला बदली। यह दो प्रकार

का होता है (१) सम परिवृत्ति अर्थात उत्तम वस्तु का उत्तम वस्तु से विनिमय (२) विषम परिवृत्ति अर्थात उत्तम वस्तु देकर न्यून वस्तु लेना अथवा न्यून वस्तु देकर उत्तम वस्तु लेना।

उदाहरण :—

समपरिवृत्ति

(१) लतिकाओं को नृत्य कला की शिक्षा देकर धीर समीर।
मधुर मधुर ले रहा जहाँ पर सुमन गन्ध उनका गंभीर॥

उपरोक्त पंक्तियों में यमुना तट के वायु द्वारा लताओं को नृत्य कला की शिक्षा देकर पुष्पों की मधुर गन्ध लेना वर्णित है.।

(२) जो देवो कामारा उसे हम सादर उनको देगें।
और ले सकेंगे जो उनसे हम कृतज्ञ हो लेंगे॥

विषम परिवृति

(१) क्रान्ति हो चुकी श्रान्ति मेंट अब आ मैं व्यंजन करूँगी।
मोती न्योछावर करके, वे श्रमकण बीन धरूँगी॥

मोती जैसी श्राम वस्तु के साथ श्रम कला जैसी न्यून वस्तु का विनिमय।

(२) देखो त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ,
पैयेफल चारि एक फूल दै धतूरेका।

अथवा

लेहैं वस्तु जहँ बालिका मुक्ताफल, दे बेर।

(३) जिसने जीर्ण शीर्ण अपना वह राम कार्य में देकर देह।
लिया चंद्रसम उज्जवल यश है धन्य धन्य वह निस्सन्देह॥

अर्थात् जटायु द्वारा बूढ़े शरीर का त्याग कर चन्द्रमा के समान यश अर्जन करना विषम परिवृत्ति है। इस प्रकार न्यून का उत्तम से विनिमय है।

३३—अनुमान

'अनु' और 'मिति' से अनुमान शब्द निर्मित्त हुआ है। 'अनु' का अर्थ है ज्ञान। अतः अनुमान अलंकार उसे कहते हैं जहाँ लक्षण अथवा चिन्ह द्वारा किसी वस्तु को ज्ञात किया जावे अर्थात साधन द्वारा साध्य का चमत्कारपूर्ण ज्ञान प्राप्ति हो।

उदाहरण :—

(१) प्रिय मुख ससि निहचै बसतु मृगनैनी हिय संध।
किरन प्रभा तन पीतता मुकुलित है हरा पध॥

इसमें वियोगिनी के शरीर का पीलापन और मुकुलित नेत्र साधन द्वारा नायिका के हृदय में पति के चन्द्रमुख की विद्यमानता सिद्ध किया गया है।

(२) हाँ वह कोमल है सचमुच ही कोमल है कितना।
मैं इतना ही कह सकता हूँ तेरा मक्खन जितना॥
बना उसी से तो उसका तन तने आप बनाया।
तब तो आप देख अपनो का पिघल उठा उठधाया॥

३४—यथासंख्य (क्रम)

क्रम सो कहि पहले कछू, क्रम तें अर्थ मिलाय।
यों ही ओर निबाहिये, क्रम भूषन सु कहाय॥

जहाँ किसी एक क्रम से कहे हुए पदों, भावों एवं अर्थों का उसी क्रम के साथ अन्वय होकर साहचर्य एवं सहयोग सम्बन्ध हो।

उदाहरणः—

(१) अमिय हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इकबार॥

एक ही पदार्थ नेत्र में अमृत, विष, मद तीन वस्तुओं श्वेत. श्याय, रतनार—तीन रंगों तथा जीना, मरना और झुकना तीन गुणों का क्रमानुसार वर्णन है।

(२) रंक लोह तरु कीट ए परसि न पलटैं अंग।
कहा नृपति, पारस कहा, कह चन्दन कह भृंग॥

यहाँ रंक, लोह, तरु और कीट का सहयोग संबंध नृपति, पारस, चन्दन और भृंग से दिखाया गया है।

३५—परिसंख्या

जहाँ किसी वस्तु का एक स्थान से निषेध करके किसी दूसरे स्थान पर स्थापना हो अथवा जहाँ प्रश्नपूर्वक अथवा बिना ही प्रश्न के कुछ कहा जाय

वह उसी के समान किसी वस्तु के निषेध करने के लिये हो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है।

उदाहरण--

(१) क्या गाने के योग्य है मोहन के गुणगीत।
ध्यान योग्य क्या है कहो, हरिपद परम पुनीत।

यहाँ प्रश्नों के उत्तर सप्रमाण है।

(२) है भूषण क्या ? यश, नहीं रत्न आभूषण,
क्या कर्म ? आर्यशुभचरित नहीं है दूषण,
क्या नेत्र ? विमल मति, नहीं चक्षु-गोलक यह।
है मित्र कौन ? सद्धर्म, न नर लौकिक यह ।।

भूषण क्या है ? आदि प्रश्न हैं, यश इत्यादि उसके उत्तर हैं। रत्न जटित आभूषण आदि निषेध के लिये कहे गये हैं।

(३) पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पूनो ही रहत, आनन ओप उजास ।।

(४) सेव्य कहा ? तट सुरसरी, कहाधेय ? हरिपाद।
करन उचित कह ? धर्मनित, चित तजि सकल विषाद ।।

३६—समुच्चय

समुच्चय का अर्थ है समुदाय या एक साथ इकट्ठा होना। जहाँ किसी कार्य को सिद्ध करने के लिये एक कर्त्ता के होते हुये अन्य कई कर्त्ता परस्पर स्पर्द्धा-युक्त होकर उस कार्य को सिद्ध करने के लिये समुदाय रूप में अथवा एक साथ एकत्रित हों वहाँ समुच्चय अलंकार होता है।

यह दो प्रकार का होता है :—

(क) **प्रथम समुच्चय** :—जहाँ एक कार्य को सिद्धि के लिए एक साधन ।पर्याप्त हो तथापि अन्य साधनों का वर्णन हो :—

(१) धन जोबन बल, अज्ञता, मोह मूल इक एक।
'दास' मिलै चार्यो जहाँ पैये कहाँ विवेक ।।

धन, यौवन, बल, अज्ञानता आदि में एक का ही होना उचित अनुचित के

विचार न रहने के लिये पर्याप्त था किन्तु इन सबको एक ही स्थान पर एक भी करण समुच्चय अलंकार निर्देशित करता है।

(२) कृष्ण के संग ही तुम्हारा नाम होगा, धाम होगा।
प्राण होगा, कर्म होगा, विभव होगा, कामना भी॥

(ख) द्वितीय समुच्चयः—जहाँ गुण अथवा क्रिया या गुण और क्रिया दोनों एक ही काल में अथवा अलग-अलग वर्णित किये जायें?

(१) आली तू ही बता दे इस विजन बिना मैं कहाँ आज जाऊँ।
दीना, हीना, अधीना, ठहर कर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ॥

यहाँ उर्मिला में दीना, हीना आदि गुणों और पाऊँ क्रिया का एक ही काल में वर्णन है।

(२) पावस के आवत भये स्याम मलिन नभ थान।
रक्त भये पथिकन हृदय पीत कपोल तियान॥

यहाँ पावस के आगमन के समय स्याम, रक्त आदि गुणों का समुच्चय है।

३७—विरोध

जहाँ वस्तुतः विरोध नहीं होता फिर भी वहाँ जब विरोध दिखलाया जाता है तब विरोधालंकार होता है।

उदाहरणः—

(१) वा विरहिन को चाँदनी, लागति है जनु घाम।

(२) चन्द्रमुखी तुम बिनु भई, ज्वालामुखी समान।

(३) पाप करै सो तरै तुलसी,
कबहूँ न तरै हरि के गुन गाये।

३८—एकावली

जहाँ वस्तुओं के ग्रहण और त्याग की एक श्रेणी बन जाये, चाहे वह विशेषण भाव से हों अथवा निषेध भाव से, वहाँ एकावली अलंकार होता है।

उदाहरणः—

(१) सोहत सो न सभा जहँ वृद्ध न, ते जु पढ़े कछु नाहीं।
ते न पढ़े जिन साधुन साधित, दीह दयान दिखे जिन माँहीं॥

सो न दया जु न धर्म धरै, धर धर्म न सों जहँ दान वृथा ही ।
दानन सों जहँ साँच न केसव, साँच न सों जु बसैं छल छाँही ॥

वह सभा नहीं जहाँ वृद्ध न हो आदि कह कर उत्तरोत्तर निषेधात्मक शृङ्खला बाँधी गयी है ।

इस अलंकार में सारे पद या शब्द जंजीर को कड़ियों की तरह परस्पर जड़े रहते हैं ।

(२) मधु-बसन्त, मधु चैत है, मधु मदिरा मकरन्द ।
(३) गिरि पै वृष, वृष पै जुसिव, सिव पै सुरसरि नीर ।
(४) सो घनश्याम जो देय रस, रस वह ज़ो सुख देय ।
सुख वह जाते देह मन, निज अभीष्ट लहि लेय ॥

एकावली--एक लड़ी वाले गले में पहनने वाले हार को कहते हैं । जैसे हार में पहले वाले मोती के साथ उसके बाद के मोती को स्थापित किया जाता है उसी प्रकार अलंकार में पूर्व कथित पदार्थ के साथ उत्तर कथित पदार्थ की स्थापना की जाती है ।

३६—आक्षेप

जहाँ पर कारण के प्रारम्भ में ही प्रतिबन्ध कर दिया जाता हैं अर्थात जिसके अन्तर्गत अभीष्ट वस्तु की विशेषता को अभिव्यक्त करने के लिये निषेध या विधि प्रस्तुत किया जाय वहाँ आक्षेप अलंकार होता है ।

'आक्षेप' शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे दोष लगाना, बाधा डालना, निषेध करना आदि । आक्षेप में कहीं निषेध और कहीं विधि का आभास होता है । अतएव जब निषेधात्मक या विध्यात्मक चमत्कार होता है तभी यह अलंकार होता है अन्यथा नहीं । *

यह अलंकार तीन प्रकार का होता है :—

(क) **प्रथम आक्षेप**:—जहाँ अपने द्वारा पहले कही गयी बात का निषेध हो अर्थात निषेध न होकर भी निषेध का आभास हो :—

(१) खिली देख नव मालती बिरह विकल वह बाल ।
अथवा कहिबे में कथा कहा लाभ इहि काल ॥

दूती नायक से कहना चाहती है कि 'नायिका तुम्हारे विरह में मर जावेगी'

किन्तु वाक्यांश कहा नहीं। उत्तरार्द्ध में निषेध नायिका की वर्णनातीत अवस्था को सूचित करने के लिये निषेध का आभास है।

(२) अबला तेरे विरह में कैसे कटे रात।
निर्दय तुम से व्यर्थ है कहना भी वह बात॥

पूर्वार्द्ध से विरह व्यथा निवेदन अभीष्ट या विवक्षित है उत्तरार्द्ध में निषेध है।

(३) सानुज पठइय मोहि बन कीजिय सवहि सनाथ।
नतरु फेरिये बन्धु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥

इसे वक्ष्यमाण निषेधाभास या उक्ताक्षेप अलंकार भी कहते हैं।

(ख) द्वितीय आक्षेपः—जहाँ पक्षान्तर ग्रहण कर कथित अर्थ का दूसरे दृष्टिकोण में निषेध किया जावे अर्थात पहले निषेध करके फिर बात कही जावे :—

(१) छोड़ छोड़ फूल मत तोड़ आली। देख मेरा,
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हलाये हैं।
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है,
दुखिनी लता के लाल आँसुओं में छाये हैं।
किन्तु नहीं चुन ले तू खिले खिले फूल सब,
रूप गुण गन्ध से जो तेरे मन भाये हैं।

उर्मिला ने पूर्वार्द्ध में फूल तोड़ने का निषेध करके उत्तरार्द्ध में तोड़ने को कहा।

(२) कत सकुचत निधरक फिरौ रतिया खोरि तुम्हैन।
कहा करौ जो जाय यें लगे लगौहैं नैन॥

(३) मेरे नाथ जहाँ तुम होते दासी वही सुखी होती।
किन्तु विश्व की भ्रातृ भावना यहाँ निराश्रित ही रोती।

(४) कवि न होउँ नहि चतुर कहावौं।
मति अनुरुप राम गुन गावौं॥

(ग) तृतीय आक्षेप—अनिष्ट वस्तु का जहाँ विधान आभासित होता है अर्थात प्रगट में तो विधि गुप्त रूप से निषेध होता है। इसे व्यक्ताक्षेप भी कहते हैं :—

(१) जाहु जाहु परदेस पिय मोहि न कछु दुख भीर।
लहहु ईस ते विनय करि, मैं हूँ तहाँ सरीर॥

(२) तुम मुझे पूछते हो जाऊँ,
मैं क्या जवाब दूँ तुम्ही कहो।
जा कहते रुकती है जबान,
किस मुँह से तुम्हें कहूँ रहो॥

(३) कोपलते किसलय जबैं होय कलिन ते कौल।
तब चलाइये चलने की चरचा नायक नौल॥

इनके अतिरिक्त काव्य दर्पण में चार भेद और दिये हैं :—

(१) निषेधात्मक आक्षेप—जहां विचार करने पर अपने कथन में दोष पाया जाय।

'दसमुख मैं न बसीठी आयऊ"

रावण के प्रति अंगद की इस उक्ति में अंगद दूत का कार्य करता हुआ भी अपने दूतत्व के रूप का निषेध करता है।

(२) निषेध भासात्मक आक्षेप—जहाँ निपेध का आभास मात्र दीख पड़े :—

चन्दन चन्द्रक चन्द्रिका चन्द साल मनिहार।
हौ न कहौ सब होय ये ताको दाहन हार॥

(३) विधि निषेधात्मक आक्षेप—जहां प्रत्यक्ष विधान में गुप्त रूप से निषेध पाया जाय।

राज देन कहि दीन बन मोहि न सोच लवलेश।
तुम बिनु भरत हिं भूप तिहिं प्रजहिं प्रचंड कलेश।

(४) निषेध विध्यात्मक आक्षेप—जहाँ पहले किसी बात का निषेध कर पीछे उसका किसी प्रकार विधान किया जाये :—

अकथनीय तेरो सुयश बरनौ मति अनुसार।

अथवा

तुलसी रेखा करक की मेटि सकै नहि राम।
मेटै तौ अचरज नहीं समुझि कियौ है काम॥

आक्षेप अलंकार की परिभाषा शिवराज भूषण में इस प्रकार दी है:—

पहिले कहिये बात कछु पुनि ताको प्रतिषेध।
ताति कहत आच्छेप हैं, भूषन सुमेध ॥

४०—मुद्रा

जहाँ प्रस्तुत अर्थ के कथन करने वाले पदों या शब्दों से दूसरा अर्थ भी निकलता हो। जैसे—

(१) सुनि मुरली सुर धुनि[1] सखि गो मति[2] को सुविवेक।
जमुना[3] यक को हित भयो, सरसइ[4] हिय धरि टेक ॥

इस दोहे में प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त सुरधुनि (गंगा), गोमति (गोमती), जमुना और सरसइ (सरस्वती) नदियों के नाम भी अर्थ से निकलते हैं।

इस अलंकार में श्लेषालंकार की भाँति द्वयार्थक शब्दों का प्राधान्य रहता है।

४१—तद्‌गुण

जहाँ कोई वस्तु अपने गुण को त्यागकर समीपवर्ती उत्कृष्ट एवं विशिष्ट गुण वाली अन्य वस्तु के गुण को ग्रहण करती दिखलाई जाती है। मतिराम, भिखारीदास और भूषण आदि सभी ने यही परिभाषा दी है।

(१) "जहाँ आपनो रंग तजि, लेत और को रंग।" —मतिराम
(२) "तद्‌गुण तजि गुन आपनो, संगति को गुन लेइ।" —भिखारी
(३) "जहाँ आपनो रंग तजि, गहै और को रंग।" —भूषण

उदाहरण :—

(१) अधर धरत हरि कै परत, ओठ, डीठि पट ज्योति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष रंग होति ॥

यहाँ अधर पर रखी बाँसुरी कृष्ण के होठ, दृष्टि और पट ज्योति के संसर्ग में इन्द्रधनुष का रंग ग्रहण कर रही है—ओठ (लाल), दृष्टि (उज्जवल), पट (पीला)।

(२) "यह शैशव का सरल हास है, सहसा उर से है आ जाता।
यह ऊषा का नव विकास है; जो रज को है रजत बनाता।"
—पन्त

यहाँ रज अपना रंग छोड़कर ऊषा के संसग में रजत बन जाता है।

४२—अतद्गुण

समीपवर्ती वस्तु के गुण ग्रहण किया जाना सम्भव हो फिर भी ग्रहण न करना जहाँ दिखलाया जावे वहाँ अतद्गुण अलंकार है।

उदाहरणः—

(१) चन्दन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग।

(२) दुष्ट न तजत स्वभाव, साथ सज्जन के रहके।
नीम न छोड़े गन्ध, इत्र को साथ किये से॥

(३) आप अपना हृदय उज्जवल कह रहे,
रंग उस पर प्रिय नहीं चढ़ता कहीं।
राग पूरित हृदय में रखती उसे,
रक्त फिर भी वह कभी होता नहीं॥

नायिका के राग भरे हुये हृदय में रह कर भी नायक के उज्ज्वल हृदय का रक्त वर्णन होना दिखलाया गया है।

४३—मीलित

मीलित शब्द का अर्थ है मिलजाना। एक ही प्रकृति एवं गुणवाली वस्तुयें परस्पर में अभेद रूप से ऐसी मिलजाती हैं कि उनमें से एक के गुण दूसरे के गुणों से तिरोभूत हो जाते हैं अर्थात जहाँ दो वस्तुओं में सादृश्यता न लक्षित हो।

उदाहरणः—

(१) पान पीक अधरान में सखी लखी नहिं जाय।
कजरारी अँखियान में, कजरा री न लखाय॥

(२) अधर पान अंजन नयन लगा महाउर पाँय।
सिय तन ये दरसत नहीं, अंगन रहे पमाय॥

४४—उन्मीलित

जहाँ दो वस्तुओं में सादृश्य के होने पर भी किसी विशेष कारण से उनमें भेद या अन्तर दिखलाई पड़े।

उदाहरण :—

(१) कुन्द कलिन की मालिका, उर लहरति न लखाय।
है मलीन कुम्हिलाय जब, तब वह जानी जाय॥

(२) चंपक हरवा गर मिलि अधिक सोहाय।
जानि परै सिय हियरै जब कुम्हिलाय॥

गले के रंग में मिला चम्पकहार कुम्हलाने पर ही गोरे अंग से पृथक लक्षित होता है।

४५—व्याजस्तुति और व्याजनिन्दा

जहाँ किसी वस्तु की निन्दा स्तुति के द्वारा की जावे अथवा किसी स्तुति के बहाने निन्दा को जावे वहाँ व्याज-स्तुति और व्याज-निन्दा अलङ्कार होता है।

उदाहरण :—

स्तुति द्वारा निन्दा :—

(१) "राम साधु, तुम साधु सुजाना।
राम मातु भलि मैं पहिचाना॥"

(२) सेमर तू बड़ भाग है, कहा सराह्यो जाय।
पंछी करि फल आस तेहि, निसदिन सेवहि आय॥

निन्दा द्वारा स्तुति :—

(१) का कहौं कहत न बनै, सुरसरि तेरी रीति।
ताके तू मूंड़े चढ़ै, जो राखै करि प्रीति॥

(२) एरी मेरो गंगा तेरी अद्भुत लहर है।

४६—अप्रस्तुत प्रशंसा

जहाँ प्रस्तुत का बोध कराने के लिये अप्रस्तुत का वर्णन किया जावे अर्थात जिस विषय को कहना हो उसे स्पष्ट शब्दों में न कहकर इस ढ़ंग से कहा जावे कि वह वास्तविक बात लक्षित हो जावे वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है। इसके ५ भेद हो तेहैं।

अप्रस्तुत प्रशंसा

कारण निबन्धना | कार्य निबन्धना | विशेष निबन्धना | सामान्य निबन्धना | सारूप्य-निबन्धना

(अ) कारण निबन्धना—जहाँ कार्य कहना हो किन्तु कहा जाय कारण; जैसे :—

(१) चन्द्रमुख ठंडी हवा से सूखता है गेह में।
वह घाम में लू से झूलस कर हा मिलेगा खेह में ॥
चंपाकली सी देह वह क्यों खुरखुरी भूपर कभी।
कब सो सकेगी, सो रही है फूल ऊपर जो अभी ॥

श्री राम सीता को वन साथ ले चलना नहीं चाहते किन्तु इसको स्पष्ट न कह कर अप्रस्तुत कारणों को बाधकरूप में उल्लेख करते हैं।

(२) गर्भन के अर्भक दलन, परसु मोट अति घोर।

यहाँ परशुराम अपने फरसे का वर्णन करके उसके कार्य मृत्यु की सूचना दी है।

(ब) कार्य निबन्धना – इष्ट ही कारण का कथन किन्तु कार्य का कथन कर के कारण की सूचना दी जावे। जैसे :—

(१) है चन्द्र हृदय में बैठा उस शीतल किरण सहारे।
सौन्दय सुधा बलिहारी चुगता चकोर अंगारे ॥

यहाँ चकोर के कार्य के द्वारा यह कहना चाहता है कि सच्चा प्रेम अमर है।

(२) मातु पितहिं जनि सोच बस, करसि महीप किसोर।

यहाँ परशुराम का तात्पर्य है कि मैं तुम्हें मार डालूँगा किन्तु कार्य की उक्ति करते हैं कि माता पिता को शोकवश मत कर।

(स) विशेष निबन्धना—अप्रस्तुत विशेष के कथन से प्रस्तुत सामान्य का बोध कराना। जैसे :—

(१) एक दम से इन्दु तम का नाश कर सकता नहीं।
किन्तु रवि के सामने तम का पता चलता नहीं॥

दुष्ट उग्रता को नीति से ही मानते है, इस प्रस्तुत सामान्य का कथन विशेष कथन द्वारा किया गया।

(२) काटि लेत तरु बाढ़ई, सूधे सूधे जोय।
बन में बके वृक्ष को काटत है नहिं कोय॥

सीधे को सभी कष्ट देते हैं तथा टेढ़े मनुष्य को कोई नहीं छूता, इस साधारण उक्ति का कथन विशेष उक्ति द्वारा किया गया है।

(द) सामान्य निबन्धना—जहाँ सामान्य बात कह कर विशेष का तात्पर्य जताया जाता है। जैसे—

(१) जग जीवन में है सुख दुख, सुख दुख में है जग जीवन,
हैं बँधे बिछोह मिलन दो देकर चिर स्नेहालिंगन।

'सब दिन समान नहीं जाता' इस विशेष उक्ति का कथन सुख-दुख, संयोग-वियोग के आने-जाने की साधारण उक्ति द्वारा स्पष्ट किया है।

(२) बड़े प्रबल सों बैर करि करत न सोंच विचारि।
ते सोवत बारूद पर, पट में बांधि अंगार॥

यहाँ विशेष बात कहना है कि अपने से सबल से वैर नहीं करना चाहिये।

(क) सारूप्य निबन्धना—प्रस्तुत का कथन न कर अप्रस्तुत का वर्णन करना, इसे अन्योक्ति अलंकार भी कहते हैं। जैसे—

(१) स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखु विहंग विचारि।
बाज पराये पानि परि तू पंछी न मारि॥

(२) काल कराल परै कितनौ, पै मराल न ताकत तुच्छ तलैया।

अर्थात विवेकी पुरुष मुसीबत पड़ने पर भी अनुचित कार्य नहीं करता। मराल अप्रस्तुत द्वारा कथन किया गया है।

४७—अतिशयोक्ति

शब्द चिन्तामणि में इसकी परिभाषा दी है—"अतिशयत: अतिक्रान्ते" अर्थात जहाँ किसी की प्रशंसा करने के लिये किसी बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहें,

सामान्य बातों का उल्लंघन करे तथा लोक-मर्यादा के विरुद्ध वर्णन करें। इस अलंकार का विषय बहुत व्यापक है। शब्द और अर्थ की जो विचित्रता है। वह अतिश्योक्ति के ही आश्रित है। कतिपय आचार्यों ने इसे अन्य अलंकार से अधिक उत्कर्ष दिया है और किसी न किसी रूप में न्यूनाधिक इसे सभी अलंकारों में निहित भी मानते हैं जोकि किसी अंश तक कथन सार्थक भी है।

अतिश्योक्ति के अंग्रेजी में Hyperbole तथा उर्दू में 'मुबालगा' कहते हैं तथा इसके मुख्य सात भेद हैं :—
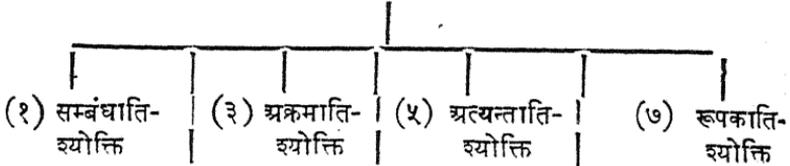
(१) सम्बंधातिश्योक्ति—जहाँ उपमेय और उपमान में वास्तविक सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध दिखाया जावे अर्थात योग्य में अयोग्य और अयोग्य में योग्य का प्रकाशन किया जाता है।

उदाहरण:—

"अति सुन्दर लखि मुख सिय तेरो,
आदर हम न करत ससि केरो।"

यहाँ चन्द्रमा सम्माननीय होने पर भी मुख के सौन्दर्य के समक्ष अनादर का पात्र बन जाता है।

"जो सम्पदा नीच गृह सोहा,
सो बिलोक सुर नायक मोहा॥"

नीच घर की सम्पदा इन्द्र को मोहने योग्य तो नहीं होती फिर भी अयोग्यता में योग्यता का दिग्दर्शन कराया गया है।

(२) असम्बन्धातिश्योक्ति—जहाँ दो वस्तुओं में सम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध का निषेध कर दिया जावे अर्थात् योग्य होते हुये भी अयोग्य बताया जावे।

उदाहरण:—

"जेहि बर बाजि राम असवारा ।
तेहि सारदा न बरनैं पारा ।"

शारदा में वर्णन करने की शक्ति होते हुये भी उन्हें अयोग्य ठहराया गया कि वह उस घोड़े का वर्णन नहीं कर सकती जिस पर राम सवार हैं ।

युग उरोज तेरे अली नित-नित अधिक बढ़ायें ।
तेरी भुज लतिकान में अब ये नहीं समायें ।

अथवा

औषधालय भी अयोध्या में बने तो थे सही ।
किन्तु उनमें रोगियों का नाम तक भी था नहीं ।।

औषधालय में रोगियों का न रहना असम्बन्ध की कल्पना की गयी है ।

(३) अक्रमातिश्योक्ति—जहाँ कारण और कार्य एक ही साथ होता है और उनके क्रम में कोई अन्तर न पड़े । यों नियमत: कारण सदैव पहले होता है, तदनन्तर कार्य होता है; किन्तु यहाँ प्रशंसा के लिये दोनों का एक साथ होना दिखाया जाता है ।

"क्षण भर उसे संधानने में वे यथा शोभित हुये,
है भाल नेत्र ज्वाल हर ज्यों छोड़ते क्षोभित हुये ।
वह शर इधर गाण्डीव गुण से भिन्न जैसे ही हुआ,
धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ ।"

बाण का छूटना और सिर का कटना दोनों एक ही साथ घटित हुआ है ।

"उठ्यो संग गज कर कमल चक्र चक्रधर हाथ ।
कर तें चक्र सुनक्र सिर धर तें बिलग्यो साथ ।"

(४) चपलातिश्योक्ति—इसमें कारण का ज्ञान मात्र होते ही कार्य का होना वर्णित होता हैं ।

उदाहरण:—

(अ) तब सिव तीसर नयन उघारा ।
चितवत काम भयेउ जरि छारा ।।

(ब) बिमल कथा कर कीन्ह अरम्भा ।
सुनत नसहिं काम मद दम्भा ॥

(स) आयो आयो सुनत ही सिव सरजा तुव नाँव ।
बैरि नारि दृग जलमन सो बूड़ि जात अरि गाँव ॥

इन सभी कारण की उपस्थिति मात्र से कार्य की पूर्ति हो गई ।

(द) मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ ।
भुजलता फँसा कर नर तरु से भूले सी झोंके खाती हूँ ॥

(५) अत्यन्तातिश्योक्ति—जहाँ कारण के पहले ही कार्य का होना वर्णित होता है ।

(१) कवि तरुवर सिव सुजस रस सीचे अचरज मूल ।
सफल होत है प्रथम ही, पीछे प्रगटत फूल ॥

(२) "रावरी कृपान रन रंग बीच रामचन्द्र,
वंक वाढ़ फन पै बहाती यों चढ़ति है ।
प्रान पहले ही हरें असुर संघातिन के,
पीछे पन्नगी लौं म्यान बाँबी ते कढ़ति है ।"

कृपाण का म्यान से निकलना कारण है किन्तु उसके प्रथम ही राक्षसों की मृत्यु रूपी कार्य हो जाता है ।

(३) हनूमान की पूँछ में, लगन न पायो आग ।
लंका सारी जरि गयी, गये निसाचर भाग ॥

(६) भेदकातिश्योक्ति – उपमेय और उपमेय में कोई भेद न होने पर भी उपमेय को भिन्न बताने के लिये अथवा उत्कर्ष लाने के लिये न्यारे, निराला, और, दूसरा ही आदि वाचक पदों द्वारा अत्यन्त प्रशंसा की जाती है ।

(१) "अनियारें दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान ।
वह चितवनि औरै कछू, जेहि बस होत सुजान ॥

चितवन तो एक ही है किन्तु 'औरै' वाचक शब्द द्वारा भिन्नत्व बताया है ।

(२) औरै कछु बोलनि चलनि, औरै कछु मुस्कान ।
औरै कछु सुख देत है, सकै न बैन बखानि ॥

(३) जगत को जैत बार जीत्यो औरंगजेब,
न्यारी रीति भूतल निहारी सिवराज की।

यहाँ न्यारी शब्द से शिवाजी की रीति अन्य रीतियों से भिन्न बताकर, प्रशंसा की है।

(७) **रूपकातिशयोक्ति**—इस अलंकार में उपमेय का कथन न किया जाकर केवल उपमान के कथन द्वारा उपमेय का वर्णन किया जाता है अर्थात् भेद में अभेद कहा जाता है। उपमेय और उपमान दो पदार्थ होते हुए, दोनों में भेद होते हुये भी उपमान के कथन के द्वारा ही उपमेय का ज्ञान करा दिया जाता है।

रामायण में तुलसीदास ने रामचन्द्र के मुख से सीता जी के लिये कहलाया है :—

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना ॥
(१) कुन्द कली दाड़िम दामिनी। सरद कमल ससि अहिभामिनी ॥
बरन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥
श्रीफल कमल कदलि हरखाहीं। नेकु न संक सकुच मनमाँही ॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाय जनु राजू ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि जब तुम थी तब ये सब उपमान तुम्हें देख कर लज्जित रहते थे। किन्तु अब तुम्हारा हरण हो जाने से ये सब प्रसन्न हुए हैं। इन सभी उपमानों द्वारा वास्तव में सीता के अंग-प्रत्यंग का प्रतीक एवं चित्रण है, जैसे:—

खंजन = नेत्र, सुक = नाक, कपोत = ग्रीवा, मृग, मीन = नेत्र, मधुप = बाल, कोकिला = वाणी, कुन्दकली = दांत, दाड़िम = दांत, दामिनी = मुस्कान, शरद कमल, ससि = मुख, अहिभामिनी = वेणी, वरुण पास = बिखरे हुये बाल, मनोज धनु = भौहैं, गज = चाल, केहरि = कटि, श्रीफल = कुच, कमल = हाथ, कदली = जंघा।

(२) बाँधा विधु को किसने, इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों से ॥

(३) विद्रुम सीपी-सम्पुट में मोती के दाने कैसे ?
है हंस न, पर शुक फिर क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे ।

इसमें ओष्ठ, दन्त और नासिका उपमेयों का निगरण कर विद्रुम, सीपी, मोती तथा शुक द्वारा बोध कराया है ।

आचार्य दण्डी ने सन्देह, निश्चय, मीलित और अधिक आदि बहुत से अलंकारों को पृथक न मानकर अतिशयोक्ति प्रकरण के अन्तर्गत ही लिखा है ।

४८—अपन्हुति

मिथ्या कीजै सत्य को, सत्य जु मिथ्या होत ।
अपन्हुति षट भेद को, बरनत है कवि गोत ॥

अपन्हुति का तात्पर्य है छिपाना, निषेध गोपन, वारण आदि । इस अलङ्कार में उपमेय का निषेध कर अथवा छिपाकर उपमान की स्थापना की जाती है अर्थात् जहाँ किसी सत्य बात को छिपाकर उसके स्थान पर किसी असत्य बात का आरोप किया जाता है । नहीं, न, मिस अथवा ब्याज इसके बाचक शब्द होते हैं ।

इसके ७ भेद हैं :—

अपन्हुति के भेद

शुद्ध	हेतु	पर्यस्त	भ्रम	छेका	कैतव	विशेष

(i) शुद्धापन्हुति – जहाँ उपमेय अर्थात् सत्य का निषेध करके उपमान अर्थात् असत्य की स्थापना की जाय ।

उदाहरण :—

"पहिरे स्याम न पीतपट, घन में बिज्जु बिलास ।"

अर्थात् पीताम्बर पहने श्याम को देखकर बिजलीमय आकाश की भान होता है ।

"चिबुक देख फिर चरण चूमने चला चित्त चिर चेरा ।
वे दो ओंठ न थे राधे था एक फटा उर तेरा ॥"

ओंठ का निषेध करके फटे उर का आरोपन है।

"पावस, ग्रीषम विजय करि आवत सहित निसान'
इन्द्र धनुष नहि तासु यह विजय पताका जान।"

(ii) हेत्व पन्हुति—जहाँ कारण बताकर उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना की जाती है।

उदाहरण:—

"अंग अंग जारै अरी, ज्वाला देखु कराल।
सिन्धु उठी बड़वागि यह, नहीं इन्दु भवभाल॥"

चन्द्रमा को देखकर नायिका कहती है कि यह चन्द्रमा ही समुद्र में उठी हुई बड़वाग्नि है क्योंकि यह भयंकर ज्वाला वाला एवं जलाने वाला है जबकि चन्द्रमा शीतल होता है। इस प्रकार 'जलाना' कारण बताकर चन्द्रमा का निषेध कर बड़वाग्नि का नाम दिया जाता है।

(iii) पर्यस्तापन्हुति- जहां किसी वस्तु के धर्म का उस वस्तु में होना निषेध करके अन्य किसी वस्तु में उस धर्म का होना कहा जाय।

उदाहरण:—

"है न सुधा यह किन्तु है सुधा रूप सत्संग।
विष हालाहल है न यह हालाहल दुःसंग॥"

यहाँ सत्संग में सुधा धर्म का आरोप करने के लिये सुधा में सुधा धर्म का निषेध किया है।

"चन्द चन्द आली नहीं, राधा मुख है चन्द॥"

"धनी नहीं धनवान है सन्तोषी धनवान,
निधन दीन नहीं दीन है क्षुद्र हृदय जन मान।"

पर्यस्त का मतलब है फैंका हुआ। इसमें एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु पर फैंका जाता है।

(iv) भ्रान्तापन्हुति—जहाँ सत्य बात को प्रकट करके किसी का भ्रम दूर किया जाता है।

उदाहरण:—

"बेसर मोती दुति झलक परी अधर पर आय।

चूनो होय न चतुर तिय क्यों पट पोंछो जाय ॥"

अर्थात् नाक में पहने बेसर के मोती की श्वेत झलक नायिका के होठों पर पड़ती है जिसे वह चूना समझकर बार-बार पोंछती है किन्तु वह साफ नहीं होता तब उसकी सखी कहती हैं कि यह चूना नहीं है मोती की झलक है।

"आली लाली लखि डरपि, जनि टेरहु नन्दलाल।
फूले सघन पलास ये, नहिं दावानल ज्वाल ॥"

(v) छेकापन्हुति—जहाँ पहले किसी बात को प्रगट कर फिर उसे छिपाने के लिये उसका निषेध किया जावे और चतुरता से दूसरी बात बना दी जावे।

उदाहरण :—

"सोभा सदा बढ़ावन हारा। आँखिन ते छिन करूँ न न्यारा॥
आठ पहर मेरा मन रंजन। क्यों सखि साजन? ना सखि अँजन॥"

कोई नायिका अपने प्रियतम का गुणगान करती हुई कहती है कि वह शोभा बढ़ाने वाले हैं, चित्त को आल्हादित करने वाले है, इसीलिये मैं क्षण भर को भी उन्हें अपनी आँखों से दूर नहीं करती। जब सखी पूछती हैं कि क्या वह तुम्हारे साजन हैं तो वह सत्य को तुरन्त छिपाकर कहती हैं, नहीं तो! मैं आँखों के काजल के बारे में बात कर रही हूँ।

"ऐनक दिये तने रहते हैं, अपने मन साहब बनते हैं।
उनका मन औरों के काबू, क्यों सखि सज्जन? ना सखि बाबू॥"

ऐनक का अर्थ है चातुर्य और अलङ्कार में चातुर्य के ही द्वारा सत्य का निषेध किया जाता है। प्रहेलिका का मुकरी नामक रूप इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(vi) कैतवापन्हुति—जहाँ मिस, व्याज आदि वाचक शब्दों द्वारा सत्य का निषेध कर असत्य वस्तु की स्थापना की जाय।

उदाहरण .—

"निपट नीरव ही मिस ओस के, नयन से गिरता बहु वारि था।"

ओस के बहाने आँसू गिर रहे हैं।

"रवि निज उदय व्याज रघुराया। प्रभु प्रताप सब नृपनि दिखाया॥"

सूर्योदय की सत्य बात का निषेधकर राम के प्रताप रूपी असत्य बात की स्थापना व्याज द्वारा की गई है।

"मुख बाल रविसम लाल होकर ज्वाल सा बोधित हुआ।
प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ॥"

(vii) विशेषापन्हुति—जहाँ विशेष प्रकार से निषेध या गोपन के कार्य का वर्णन किया जाता है।

उदाहरण:—

पुलक प्रकट करती है धरणी हरित तृणों की नोंकों से।
मानों झीम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से॥"

यहाँ हरित तृण की नोकों को गोपन कर पृथ्वी के पुलक को. अभिव्यक्ति की गई है।

४९---दीपक

जहाँ उपमेय और उपमान का एक ही धर्म कहा जाय वहाँ दीपक अलङ्कार होता है।

उदाहरण :—

"रहिमन पानी राखिये बिना पानी सब सून।
पानी गये ना ऊबरै मुक्ता मानिक चून॥"

इसमें पानी प्रस्तुत और मुक्ता, मानिक तथा चून अप्रस्तुत का एक ही धर्म है "न ऊबरै"।

सोहत भूपत दान सो फल-फूलन आराम।"

भूपति प्रस्तुत और आराम अप्रस्तुत का एक ही धर्म है 'सोहत'

"संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी, नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥

५०---उल्लास

जहाँ किसी व्यक्ति या वस्तु के गुण एवं दोष से किसी अन्य व्यक्ति व वस्तु को गुण या दोष प्राप्त होता दिखलाया जाता है। यह अलङ्कार सम्पर्क प्रभाव का प्रदर्शक है। इसमें "संगति ते गुण ऊपजै, संगति ते गुन जाय" के सिद्धान्त को प्रधान्य एवं बल दिया जाता है।

इसके मुख्यतया ४ भेद माने गये हैं :—

(क) गुण से गुण—

"सठ सुधरहिं सत संगति पाई ।
पारस परसि कुधातु सोहाई ॥"

(ख) दोष से दोष—

संगति को गुन साँच है, कहै जु गुनी रसाल ।
कुटिल कूबरी संग ते, भये त्रिभंगी लाल ॥"
"जा मलयानिल लौट जा यहाँ अवधि का शाप ।
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप ॥"

(ग) गुण से दोष—

"जो काहू के देखहिं विपती, सुखी भये मानहु जगनृपती ।"
"जरहिं सदा पर सम्पत्ति देखी"

(घ) दोष से गुण—

"खल परिहास होय हित मोरा ।"
"व्यथा भरी बातों ही में रहता है कुछ सार भरा ।
तप में तप कर ही वर्षा में रहती है उर्वरा धरा ॥"

यह स्मरणीय है कि उल्लास अलङ्कार असंगति के प्रथम रूप से कुछ मिलता-जुलता है, दोनों में भेद यह है कि इसमें कार्य कारण सम्बन्ध ही पर जोर दिया जाता है ।

५१—अवज्ञा

जहाँ एक व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ के गुण दोष से किसी अन्य व्यक्ति, वस्तु पदार्थ आदि में गुण या दोष का संचार या समावेश नहीं होता । यह उल्लास अलङ्कार का उल्टा है ।

इसके मुख्य दो रूप हैं ।

(क) गुणात्मक—जहाँ एक के गुण से किसी दूसरे में गुण न होवे ।

उदाहरण:—

फूलै फलै न बेंत जदपि सुधा बरखहिं जलद ।
मूरख हृदय न चेति, जो गुरु मिलहिं बिरंचि सम ॥

"बड़वानल सह सिन्धु जल उषन न होत निहार"

(ख) दोषात्मक—जहाँ एक के दोष से दूसरे में दोष न आवे।

उदाहरण—

"चन्दन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजंग।"

"दोष बसन्त को नेकु नहीं
उलहै न करील की डार जु पाती।"

५२—सामान्य

जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत में गुण सादृश्य होने के कारण एकात्मक और अभेद का वर्णन हो।

उदाहरण:—

"भरत राम एकै अनुहारी। सहसा लखि न सके नर नारी।
लखन शत्रुसूदन एक रूपा। नख सिख ते सब अंग अनूपा॥"

यहाँ भरत-राम और लक्ष्मण-शत्रुघ्न में भेद रहते हुए भी अभेद या एकात्मकता का वर्णन है।

५३—विशेष

विशेष का अर्थ है असामान्य, विलक्षण अथवा असाधारण; इसके तीन भेद हैं :—

(क) प्रथम विशेष—जहाँ प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय का वर्णन हो, जैसे:—

"आज पतिहीना हुयी शोक नहीं इसका
अक्षय सुहाग हुआ मेरे आर्य पुत्र तो
अजर अमर है सुयश के शरीर में।"

यहाँ पति आधार के बिना अक्षय सुहाग रूपी आधेय का वर्णन है।

"बिन बारिद बिजुरी बिना, बारि लसत युग मीन।
बिधु-ऊपर तम तोम है निरखी रीत नवीन॥"

(ख) द्वितीय विशेष—जहाँ एक ही समय में एक ही रीति से एक वस्तु का अस्तित्व अनेक स्थानों पर दिखलाया जाय, जैसे :—

"जल में थल में गगन में जड़ चेतन में दास।
चर अचरन में एक है परमात्मा प्रकाश॥"

परमात्मा के प्रकाश का अस्तित्व एक ही समय में जल, स्थल, गगन, जड़, चेतन, गोचर, अगोचर सभी में मौजूद है।

"आँखों की नीरव भिक्षा में आँसू के मिटते दागों में,
ओठों की हँसती पीड़ा में, आहों के बिखरे त्यागों में
कन-कन में बिखरा है निर्मम, मेरे मानस का सूनापन।"

एक ही काल में एक ही स्वभाव से सूनेपन का अनेक स्थानों पर अस्तित्व वर्णित है।

(ग) तृतीय विशेष—जहाँ थोड़े आरम्भ से अधिक सिद्धि की जाय; जैसे:—

"धो ली गुह ने धूल अहिल्या तारिणी,
कबि का मानस कोष बिभूति विहारिणी।
प्रभु पद धोकर भक्त आप भी धो गया,
कर चरणामृत पान अमर वह हो गया॥"

मात्र चरणामृत पान से अमरत्व प्राप्त करना थोड़े से अधिक की सिद्धि है।

"पाइ चुके फल चार हू करि गंगा जल पान।"
आज की या छबि देखि सखी, अब देखिबे को न रहो कछु बाकी।"

५४—अधिक

जहाँ आधार से आधेय की अधिकता अथवा आधेय से आधार की अधिकता का वर्णन किया जावे।

उदाहरण:—

(क) आधार से आधेय का बड़ा कहना :—

"जामे भारी भुवन सब गँवई से दरसात।
तेहि अखंड ब्रह्मांड में तेरो जस न अमात॥"

(ख) छोटे आधार में बड़े आधेय को रखना : —

"तुम जो गिरिवर कर धर्‌यो, सो है हलकी बात।
गिरि समेत मैं उर धर्‌यो, नेकौ न गरु आत॥"

अथवा

ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै।
मप उदर सो वासी यह उपहासी, सुनत धीर थिर न रहै॥

५५—लेश

जहाँ गुण में दोष और दोष में गुण की कल्पना की जाय।

मम्मट और विश्वनाथ ने इसे अलग अलंकार नहीं माना है। अप्पय ने लिखा है। "लेशःस्याद्दोषगुणायोर्गुणदोषत्वकल्पनम्" और इसके दो रूप माने हैं। मतिराम, भूषण भिखारीदास, लछिराम, पद्माकर, जसवन्तसिंह आदि आचार्यों ने भी लेश अलङ्कार को २ रूपों सहित माना, सिवाय गोकुल कवि जिन्होंने लेश के ४ रूप माने हैं—

(१) गुण में दोष
(२) दोष में गुण
(३) गुण में गुण
(४) दोष में दोष स्थापन

उदाहरण:—

"अन्धकार सब दूरि करि, दीपक करहु प्रकाश।
सहज सनेही ह्वै करहु, प्रिय पतग को नाश॥"

यहाँ गुण में दोष की कल्पना की कल्पना की गई है।

"रहिमन विपदा ही भला जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में जानि परत सब कोय।"

अथवा

"मरन भलो बरु बिरह तें यह विचार चित जोय।
मरन छुटे दुख एक कौ, बिरह दुहूँ दुख होय॥"

यहाँ दोष में गुण की कल्पना की गई हैं।

५६—मुद्रा

जहाँ प्रस्तुत अर्थ के कथन करने वाले शब्दों से दूसरा अर्थ भी निकलता हो।

उदाहरण:—

"सुनि मुरली सुर-धुनि सखो, गोमति को सुविवेक।
जमुनायकु को हित भयो, सरसइ हिय धरि टेक॥"

इस दोहे में प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त सुरधुनि (गंगा), गोमति (गंगा) जमुना और सरसइ (सरस्वती) नदियों के नाम भी सूचित होते हैं।

५७—परिणाम

जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में असमर्थ होने पर उपमेय की सहायता से उस कार्य को करने में समर्थ होता है।

उदाहरण:—

"पद पंकज ते चलत व कर पंकज लै कंजु।
मुख पंकज ते कहत हरि बचन रचन मुद मंजु॥"

इस दोहे में पंकज जब तक पद, कर और मुख से एक रूप नहीं हो जाता तब तक चलने, लेने और कहने का कार्य नहीं सिद्ध हो सकता।

"कर कमलन धनु सायक फेरत"

यहाँ कर के उपमान कमल द्वारा 'धनु सायक फेरना' दिखाया गया है!

५८—सार

पूर्वकथित वस्तु की अपेक्षा उत्तरोत्तर कथित वस्तु का धाराप्रवाह रूप से अन्त तक अधिकाधिक उत्कर्ष वर्णन करने को सार अलंकार कहते हैं।

उदाहरण—

(i) "जग में जीवन सार है, तासो संपति सार।
संपति सो गुन सार हैं, गुन सों पर उपकार॥"

(ii) "रहिमन वे नर मर चुके जो कहुँ माँगन जाय।
उनते पहिले वे मरे, जिन मुख निकसत नाँय॥"

(iii) मखमल ते कोमल महा, कदलि गरम को पात।
ताहू ते कोमल अधिक, राम तुम्हारे गात॥

५९—हेतु

जहाँ कारण और कार्य का अभेद दिखलाया जाये अर्थात् कारण और

कार्य दौनों एक साथ रहें अथवा दोनों का एक सहित वर्णन किया जावे।

उदाहरण—

"घरु घरु डोलत दीन ह्वै जनु जनु जाचतु जाइ।
हिये लोभ चसमा चखनु लघु पुनि बड़ो लखाइ॥"

यहाँ लोभ रूपी चश्मा के कारण छोटे को भी बड़ा करके दीखने का कार्य वर्णित है।

"मेरी रिद्धि समृद्धि है, तुव दाया रघुनाथ।"
"कोऊ कोरिक संग्रहौं, कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति यदुपति सदा, विपति विदारनहार॥"

६०—उदाहरण

कोई साधारण बात कह कर 'ज्यों, जैसे' वाचक शब्दों द्वारा किसी विशेष बात से जहाँ समता दिखाई जाती है वहाँ उदाहरण अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

(१) "तेरा साँई तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर-फिर ढूँढ़ै बास॥"

(२) "बूँद अघात सहैं गिरि कैसे।
खल के वचन सन्त सह जैसे॥"

(३) बुरो बुराई जो तजै सो चित खरा डरातु।
ज्यो निकलंक मयंकु लखि गनैं लोग उरपातु॥"

'उदाहरण' और 'दृष्टान्त' अलङ्कारों में मात्र इतना अन्तर है कि दृष्टान्त में ज्यों, जैसे आदि वाचक शब्द नहीं होते हैं जब कि उदाहरण में होते हैं। साथ ही दृष्टान्त में एक बात ऊपर कही जाती है और उसी से मिलती-जुलती दूसरी बात नीचे की पंक्ति में कही जाती है, जब कि उदाहरण अलङ्कार में ऊपर की पंक्ति में जो बात कही जाती है उसकी पुष्टि के लिए नीचे की पंक्ति में समतापूर्ण बात कही जाती है।

प्राचीन आचार्यों ने उदाहरण अलंकार को एक अलग अलंकार माना है जब कि अर्वाचीन आचार्यों ने इसका उल्लेख भी नहीं किया है। यह आश्चर्य

है। जब कि यह सत्य है कि उदाहरण अलंकार, उपमा, दृष्टान्त और अर्थान्तर न्यास में से किसी में भी अर्न्तभूति नहीं हो सकता।

६१—अत्युक्ति

जहाँ सम्पत्ति, सौन्दर्य, शौर्य, उदारता, सुकुमारता आदि का मिथ्या वर्णन हो।

उदाहरण—

"कह दास तुलसी जबहिं प्रभु सर-चाप कर फेरन लगे।
ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिन्धु भूधर डगमगे॥"
"भूली नहीं अभी मैं वह दिन कल की ही तो है यह बात,
सोने की घड़ियाँ थीं अपनी चाँदी की थी प्यारी रात।
मैं जमीन पर पाँव न धरती छिलते थे मखमल पर पैर,
आँखें बिछ जाती थीं पथ में मैं जब करने जाती सैर॥"

इसमें ऊपर वाले दोहे में बल-वर्णन में अत्युक्ति है तथा दूसरे पद में सम्पत्ति और सौकुमार्य के वर्णन में अत्युक्ति है।

इसे अँग्रेजी में (Exaggeration) कहते हैं।

६२—लोकोक्ति

जहाँ किसी लोक-प्रसिद्ध कहावत का अविकल रूप से प्रयोग हो। यह लोकोक्तियाँ शुद्ध, परिष्कृत, अनुकृत, अनुवादित और उद्धृत रूप में प्रयुक्त होती हैं।

उदाहरण—

(१) "मुसकाई मिथिलेशनंदिनी प्रथम देवरानी फिर सौत,
अंगीकृत है मुझे किन्तु तुम नहीं माँगना मेरी मौत।
मुझे नित्य दर्शन भर इनके तुम करते रहने देना,
कहते हैं इसको ही अँगुली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना॥"

(२) "कर्म प्रधान विश्व कर राखा,
जो जस करै सो तस फल चाखा।"

(३) "वृथा मरहु जनि गाल बजाई। मन मोदकनि कि भूख बुझाई ॥"
अंग्रेजी में इसे (Idiom) कहते हैं।

६३—छेकोक्ति

'छेक' का अर्थ है चतुर। जहाँ लोकोक्ति अथवा प्रचलित कहावत का प्रयोग साभिप्राय हो अर्थात् पहले कोई बात कहके उपमान के रूप में लोकोक्ति का प्रयोग हो वहाँ छेकोक्ति अलङ्कार होगा।

उदाहरण—

(१) "मोसो क्या पूछत अरी। बार-बार तुम खोज।
जानतु है जु भुजंग ही भुवि भुजंग को खोज।"

सीता जी से निशाचरियाँ अब हनुमान जी के विषय में पूछतीं हैं तो उत्तरार्द्ध में कही हुई लोकोक्ति में यह अर्थ गर्भित है कि तुम्हारी राक्षसी माया को तुम राक्षस ही जान सकते हो।

(२) "सत्य सराहि कह्यो बर देना। जानेहु लेइहिं माँग चबेना ॥"
यह अलंकार बहुत कुछ लोकोक्ति के ही आधार पर समधारित है।

६४—पर्यायोक्ति

जहाँ अभीष्टार्थ या इष्ट भाव सीधे-सादे एवं साधारण रूप में न कहा जाकर घुमा-फिरा कर, किसी बहाने से अथवा दूसरे प्रकार से व्यक्त किया जावे।

उदाहरण—

(१) "नाथ! लखन पुर देखन चहहीं। प्रभु संकोच डर प्रगट न कहहीं।
जो राउर अनुशासन पाऊँ। नगर दिखाय तूरत लै आऊँ ॥"

यहाँ रामचन्द्र की स्वयं इच्छा जनकपुर देखने की है किन्तु लक्ष्मण की इच्छा का बहाना कर आज्ञा माँगते हैं।

(२) "राधे आओ कान में, सुनौ मातु सन्देश।
कह 'रसाल' यों हरि लियो, चूमि कपोल प्रदेश ॥"

(३) "राधे! भली न या हँसी. लीन्हों गेंद दुराय।
देहु-देहु कहि कंचुकी, गही बिहँसि हरि आय ॥"

इस अलंकार को अंग्रेजी में Periphrasis कहते हैं।

६५—भाविक

जहाँ भूत एवं भविष्यकालीन बातों का वर्णन वर्तमान एवं प्रत्यक्ष की भाँति किया जावे।

उदाहरण—

(१) "जाकी छवि को देखि कै होत मनहि बिसराम।
चित्रकूट में जानिये, अबहूँ राजत राम॥"

(२) "अवलोकते ही हरि सहित अपने समक्ष उन्हें खड़े,
फिर धर्मराज विषाद से विचलित उसी क्षण हो गये।
वे यत्न से रोके हुए शोकाश्रु फिर गिरने लगे,
फिर दुःख के वे दृश्य उनकी दृष्टि में फिरने लगे।"

अर्जुन और श्रीकृष्ण को सामने देख कर युधिष्ठिर के मृतक अभिमन्यु के भूतकालिक दुःख का पुनः वर्तमान काल में स्मरण वर्णन किया गया है।

(३) "अरे मधुर है कष्टपूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ,
जब निःसंबल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ।"

६६—अनन्वय

जब उपमेय का कोई उपमान न होने के कारण उपमेय को ही उपमान बना दिया जाय।

उदाहरण—

(१) "सुन्दर नन्द किशोर से सुन्दर नन्द किशोर।"

यहाँ पर नन्दकिशोर की नन्दकिशोर से ही उपमा दी गई है।

(२) "राम से राम, सिया सी सिया,
सिरमौर बिरंचि विचार सँवारे।"

(३) "उस काल दोनों में परस्पर युद्ध वह ऐसा हुआ,
है योग्य कहना यही अद्भुत वही ऐसा हुआ।"

६७—उपमेयोपमा

जहाँ उपमेय और उपमान एक दूसरे के उत्कर्ष के लिए परस्पर उपमान और उपमेय हों अर्थात् जहाँ उपमेय के लिए केवल एक ही उपमान हो, तीसरी सदृश का अभाव हो।

उदाहरण—

(१) "सुधा सन्त के बैन सम, बैन सुधा सम जान।
बैन खलन के विषहिं से, विष खल बैन समान॥"

(२) "दो सिंहों का मनो अचानक हुआ समागम।
राक्षस से था न्यून न कपि या कपि से था वह कम॥"

(३) "अवधपुरी अमरावति सी,
अमरावति अवधपुरी सी विराजै।"

उभयालङ्कार या सम्मिलित अलङ्कार

जहाँ दो अथवा दो से अधिक अलङ्कारों का मिश्रण होता है वहाँ उभयालङ्कार होता है। यह दो प्रकार के होते है :—(१) संसृष्टि, (२) संकर।

१—संसृष्टि

जहाँ दो अलङ्कार तिलतन्दुलवत मिले हुए हों अर्थात् जैसे तिल और चावल मिला देने पर भी अपने-अपने रंग के कारण प्रत्यक्ष पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार संसृष्टि में भी दो अलङ्कार मिश्रित होने पर भी पृथक् दिखाई पड़ें। यह तीन प्रकार के होते हैं :—
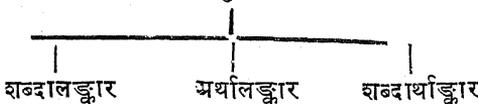
(क) शब्दालङ्कार संसृष्ट—जहाँ दो से अधिक शब्दालङ्कार एक ही छन्द में तिलतन्दुलवत मिले हुए हों।

उदाहरण—

(१) "मर मिटें रण में पर राम के हम न दें सकते जनकात्मजा।
सुन कपे जग में बस बीर के सुयश का रण कारण मुख्य है॥"

इसके पहले चरण में 'र' और 'म' की आवृत्ति से वृत्यानुप्रास है तथा चौथे चरण में यमक है।

(२) "कलकल रूप में है वंशी रव गूँज रहा,
जा के सुनो कलित कलिंदजा के कूल में।"

इसमें छेकानुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश और वृत्यानुप्रास हैं।

(ख) **अर्थालङ्कार संसृष्टि**—जहाँ दो या दो से अधिक अर्थालङ्कारों का एक ही छन्द में आवृत्ति हो।

उदाहरण—

(१) "सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह सी अम्बरपथ से चली।"

इसमें 'छाँह सी' में उपमा और 'नीरवता के कन्धे पर' तथा 'अम्बरपथ' में रूपक अलङ्कार है।

(२) "नील सरोरुह स्याम, तरन अरुन वारिज नयन।
करो सो मम उर धाम, सदा क्षीर सागर सयन॥"

प्रथम दो चरण में लुप्तोपमा और चौथे चरण में पर्यायोक्ति अलङ्कार हैं।

(ग) **शब्दार्थालङ्कार संसृष्टि**—जहाँ शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार दोनों ही निरपेक्ष रूप में एकत्र होकर स्थित हों।

उदाहरण—

(१) "लसत मंजु मुनि मंडली, मध्य सीय रघुनन्द।
ज्ञानसभा जनु तनु धरे, भक्ति सच्चिदानन्द॥"

प्रथम चरण में 'म' अक्षर का अनुप्रास है तथा 'जनु' शब्द से 'उत्प्रेक्षा' प्रगट होता है।

(२) "जीवन प्रात समीरण सा लघु विचरण निरत करो।
तरु तोरण तृण-तृण की कविता छवि-मधु सुरभि भरो॥"

प्रथम चरण में उपमा तथा 'त, र, ण' अक्षरों का अनुप्रास है तथा 'छवि-मधु' में रूपक भी है।

२—संकर

जिस प्रकार दूध और पानी जब आपस में मिल जाते हैं तो पृथक् नहीं किये जा सकते उसी प्रकार नीर-क्षीर के समान जहाँ अलङ्कारों का मिश्रण होता है वहाँ संकर उभयालङ्कार होता है।

इसके चार भेद होते हैं :—
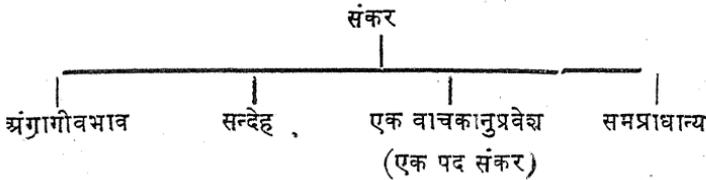
(क) **अंगागीभाव संकर**—जैसे बिना बीज के वृक्ष और बिना वृक्ष के बीज नहीं हो सकता और वे दोनों एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं, वैसे ही जहाँ दो या दो से अधिक अलङ्कार अन्योन्याश्रित होते हैं वहाँ अंगागीभाव संकर होता है।

उदाहरण—

(१) "करुणामय को भाता है तम के परदे से आना ।
ओ नभ की दीपावलियों तुम छन भर को रुक जाना ॥"

इसमें रूपक अलङ्कार है और दोनों की स्थिति एक दूसरे के बिना सम्भव नहीं है।

(२) "तुव अरि तियगन बन भजत लूटी सब बटमार ।
अधर बिम्ब दुति गुंज गुनि, हरे न मुकुता हार ॥"

अर्थात् तेरे शत्रुओं की स्त्रियों को वन में भागते समय लुटेरे भीलों ने लूट लिया परन्तु ओठों की द्युति से लाल हुए मोतियों को गुञ्जाफल समझकर मोती का हार नहीं लूटा। इस प्रकार ओठों के साहचर्य से मोतियों का गुञ्जाफल हो जाना तद्गुण अलङ्कार है तथा हार को गुञ्जाफल समझकर न लूटना भ्रान्ति अलङ्कार है।

(ख) **सन्देह संकर**—जहाँ अनेक अलङ्कारों की स्थिति के कारण किसी एक अलङ्कार का निर्णय न हो सकना सन्देह संकर अलङ्कार है।

(१) "सुनि मृदु वचन मनोहर पिय के।
लोचन नलिन भरे जल सिय के॥"

इसमें 'लोचन नलिन' उपमान अथवा रूपक, 'मनोहर पिय के' मृदु वचनों से दुःख होना विषम अलङ्कार है, "लोचन नलिन भरे जल सिय के" के मिस सीता जी के दुःख रूपी कारण का कथन होने से अप्रस्तुत प्रशंसा है। सन्देह है कि कौन है।

(२) "काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली,
मानिक मदिरा से भर दी, किसने नीलम की प्याली।"

इसमें सन्देह है कि काली आँखों का "नीलम की प्याली" और मद की लाली का "मानिक मदिरा" रूपक अथवा लाली भरी काली आँखें मानिक मदिरा से नीलम की प्याली सी सुन्दर है, लक्ष्योपमा है।

(३) "जब शान्त मिलन सन्ध्या को हम हेम जाल पहनाते।
काली चादर के स्तर का खुलना न देखने पाते॥"

इसमें रूपकातिशयोक्ति और उल्लास दोनों ही अलङ्कार हैं, किन्तु एक का निर्णय करना सन्देहात्मक है।

(ग) एक वाचकानुप्रवेश संकर—जहाँ एक ही पद में अनेक अलङ्कारों की स्थिति हो।

उदाहरण—

(१) "हे हरि दीन दयाल हौ, मैं माँगौ सिर नाय।
तुव पद पंकज आसरे, मन मधुकर लगि जाय॥"

इसमें पद-पंकज तथा मन-मधुकर में अनुप्रास एवं रूपक अलङ्कार एक ही स्थान पर स्थित है।

(२) "मन में बसी है मूर्ति उसी मनमोहन की,
हिचकें भला वे कैसे रूप-रस पान में।"

'रूप-रस' में छेकानुप्रास और रूपक दोनों अलङ्कार हैं।

(घ) समप्राधान्य संकर—दिन और सूर्य की भाँति जहाँ दो अलङ्कार साथ ही व्यक्त हों।

उदाहरण—

(१) "रघुपति कीरति कामिनी क्यों कह तुलसीदासु।
सरद प्रकास अकास छवि, चारु चिबुक तिल जासु॥"

इसमें 'क, स, च' का अनुप्रास, प्रतीप और रूपक एक ही साथ भासित होते हैं।

(२) "सेये सीताराम नहिं भजे न संकर गौरी।
जनम गँवायो वा दिही, परत पराई पौरी॥"

स, र, प के अनुप्रास और दृष्टान्त एक साथ ही हैं।

रस

रस क्या है ?—मनुष्य प्रकृति से सौन्दर्य-प्रिय होता है क्योंकि सौन्दर्य का दर्शन कर मनुष्य आनन्द को अनुभूति करता है और सौन्दर्य के ही कारण अपने उद्‌गारों में रस भर देता है। रस का तात्पर्य आनन्द है तथा आनन्द का संबंध अनुभूति से है। यह अनुभूति दो रूपों में होती है—(१) साक्षात् अथवा प्रत्यक्षानुभूति, (२) काव्य या रसानुभूति। साक्षात् अनुभूति में मनुष्य अपने व्यक्तिगत संबंधों से जोवन में क्रोध, करुणा, घृणा, प्रेम आदि भावों की अनुभूति करता है जिसमें दो भाव मनुष्य में जागते हैं, (१) सुखानुभूति (२) दुःखानुभूति। पहले में प्रवृत्ति जागती है, दूसरे में निवृत्ति। काव्य अथवा रसानुभूति में काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि पढ़ने या देखने से सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति होती है किन्तु मन को स्थिति सदा एक ही सी रहती है। दोनों हो स्थितियों में मन उनके उपभोग को लालायित रहता है अतएव यह अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति से अधिक सुसंस्कृत एवं परिष्कृत है। मन की इसी स्थिति के कारण यह अनुभूति 'रस' कहलाती है। अग्निपुराण[1] में रस को काव्य का जीवन तथा आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण[2] में रस को काव्य की आत्मा कहा है। कोई रचना शब्दाडम्बर से भूषित कविता नहीं कहला सकती जब तक उसमें हृदय को छूने वाला चमत्कार न हो। इस प्रकार चमत्कार ही रस का प्राण या सार है।[3]

रसोत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न आचार्यों का भिन्न-भिन्न मत है, किन्तु ४ आचार्यों का मत प्रमुख हैं :—(१) श्री भट्टलोल्लट, (२) श्री शंकुक, (३) श्री भट्टनायक (४) श्री अभिनव गुप्त।

---

१. "वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितं।"—अग्निपुराण

२. "रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य
तेन विना तस्य काव्यत्वाभावस्य प्रतिपादित त्वात।"—साहित्य दर्पण

३. "रसे सारः चमत्कारः।"

(१) **श्री भट्टलोल्लट**—आपका मत उत्पत्तिवाद अथवा आरोपवाद अथवा अनुकार्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। आपके अनुसार रस का अस्तित्व अभिनेता के कार्य-कलाप, वेष भूषा, वाणी-भंगिमा में होता है। किन्तु इन अनुकार्यों से दर्शक का हृदय चमत्कृत हो उठता है, केवल मनोरंजन हो जाता है, रस की स्थिति नहीं होती क्योंकि अभिनेता तो अभिनयमात्र के लिए संभाषण करता है, वेदना का प्रदर्शन करता है, वेष-भूषा के द्वारा हँसाता-रुलाता है, स्वयं रस की दशा को प्राप्त नहीं होता अन्यथा कला के प्रदर्शन में असमर्थ रहेगा।

(२) **श्री शंकुक**—इनका मत अनुमितिवाद अथवा अनुमानवाद के नाम से विख्यात है। ये भरत सूत्र के दूसरे व्याख्याकार हैं तथा प्रथम व्याख्या का भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इन्होंने अभिनेता के कार्य में रसोत्पत्ति युक्तिसंगत नहीं माना है। इनका कथन है कि जैसे किसी स्थान पर धुआँ देख कर अग्नि का अनुमान किया जा सकता है उसी प्रकार जहाँ विभाव अनुभाव और व्यभिचारी तीनों मौजूद हैं वहाँ रस का अनुमान अवश्य होता है। एक दूसरा उदाहरण है कि जैसे चित्र में दौड़ते घोड़े को देखकर यह अनुमान लगा लिया है कि घोड़ा दौड़ रहा है कवि उसी प्रकार अभिनेता के अनुकार्यों को दर्शक अनुकार्य मानकर रसानुभूति का अनुमान कर लेता है। यह मत भी अधिक मान्य नहीं हो पाता क्योंकि मात्र अनुमान के आधार पर हृदय में साधारणीकरण का भाव उत्पन्न नहीं हो सकता और साधारणीकरण का भाव न आने पर दर्शक या श्रोता को रसानुभूति नहीं हो सकती।

(३) **श्री भट्टनायक**—इनका मत मुक्तिवाद या भोगवाद के नाम से जाना जाता है। इन्होंने शंकुक के मत को युक्ति संगत नहीं माना है। इनका कथन है कि मात्र अनुमान करके आनन्दित होना व्यर्थ-सा है। इनके अनुसार दर्शक में ही रस की स्थिति होती है। इसे समझाने के लिए उन्होंने दो प्रकार की शक्तियाँ मानी हैं।

(क) **भोजक वृत्ति**—काव्य में वर्णित विषयों में ऐसी शक्ति होती है जो दूसरों के द्वारा ग्रहण अथवा भोग करने योग्य होती है।

(ख) **भोगवृत्ति**—काव्य पढ़ते या नाटक देखते समय श्रोता या पाठक

तथा दर्शक के मन में ऐसी शक्ति जागती है जो उसे काव्य या नाटक को ग्रहण करने योग्य बना देती है।

भट्टनायक का विश्वास है कि स्थायी भाव से रस बनने तक की क्रिया में तीन शक्तियों का हाथ रहता है—(१) अभिधा—काव्य के सामान्य और आलंकारिक अर्थों का ज्ञान होता है। (२) भावकत्व—इस शक्ति द्वारा देश, काल, व्यक्तित्व आदि विशेषताएँ हट जाती हैं; फलस्वरूप स्थायी भाव साधारण होकर मनुष्य मात्र द्वारा भोग करने योग्य बन जाता है। (३) भोजकत्व—इस अवस्था में पहुँचकर यह शक्ति साधारणीकृत स्थायीभाव को रस के रूप में अनुभूति करा देता है और दर्शक, श्रोता या पाठक रस का भोग करता है। यह भोग मनुष्य में रजोगुण और तमोगुण ो मिटाकर सतोगुण की वृद्धि करता है जिससे आनन्द की अनुभूति होती है और यही आनन्द ही रस है। यही आनन्द या रस थोड़ी देर के लिए मनुष्य को सांसारिक बन्धनों एवं चिन्ताओं से मुक्त कर अलौकिक आनन्द अथवा ब्रह्मानन्द का अनुभव करा देता है।

(४) श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य—इनका मत अभिव्यंजनावाद के नाम से विख्यात है। इनका भट्टनायक से कोई विशेष मत-वैषम्य नहीं है लेकिन उनकी भोजकत्व और भावकत्व वृत्ति को व्यर्थ मानते हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि अत्यन्त प्राचीन काल से व्यंजना और ध्वनि नामक वृत्ति चली आ रही है जिसकी सीमा का विस्तार करने से ही काम चल जाता है। भावकत्व तो भावों का अपना गुण है ही क्योंकि भरतमुनि की परिभाषा के अनुसार जो काव्यार्थ को भावना का विषय बना ले वही भाव है।[१] काव्यार्थ का तात्पर्य है मुख्यार्थ और यही मुख्यार्थ रस की व्यंजना करता है। अभिनवगुप्त के अनुसार दर्शक या पाठक में विभिन्न प्रकार के भाव वासना रूप में पहले से विद्यमान रहते हैं।[२] केवल उन वासनाओं को उद्बुद्ध करना ही काव्य का काम होता है, अव्यक्त रूप से वे सदैव स्थित रहती हैं, उनकी अभिव्यक्ति ही काव्य कराता है।

१. "काव्यार्थान भावयंतीति भावाः"—भरतमुनि

२. "विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः सतैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥"—काव्यप्रकाश

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त ही उत्तराचार्यों द्वारा मान्य हुआ है ।

रसोत्पत्ति—रस की उत्पत्ति के विषय में लगभग सभी विद्वान एक मत हैं कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त रति आदि स्थायी भाव रस कहलाते हैं :—

"जो विभाव अनुभाव अरु विभिचारिनी करि होय ।
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोय ॥"

रस के अंग
- विभाव
- अनुभाव
- संचारी भाव
- स्थायी भाव
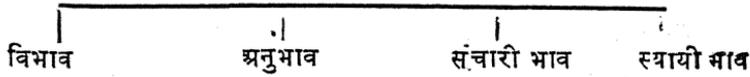
(१) **विभाव**—जो लोक में या काव्य नाटकादि में हृदय की वृत्तियों को उद्बुद्ध करते हैं अथवा सामग्री जो रसों को प्रदीप्त करे वह विभाव कहलाते हैं । विभाव का अर्थ है कारण, निमित्त अथवा हेतु ।[1] इसके दो भेद हैं—

विभाव
- आलम्बन
- उद्दीपन

(अ) **आलम्बन विभाव**—जिनका आलम्बन करके रति आदि मनोविकार उत्पन्न होते हैं, जिनके सहारे रस की उत्पत्ति होती है वह आलम्बन विभाव कहलाता है । आलम्बन का अर्थ है 'आश्रय' । शृंगार रस में नायक और नायिका आलम्बन हैं । जैसे—

"रूप की तुम एक मोहन खान ।
देख तुमको प्राण खुलते फूटते मृदु गान ॥"

—अंचल

(ब) **उद्दीपन विभाव**—उद्दीपन का अर्थ है 'बढ़ाना' । जो रस को उद्दीप्त करे, उसकी आस्वाद योग्यता बढ़ावे वह उद्दीपन कहलाता है । जैसे—शृंगार रस में पुष्प-वाटिका, चन्द्रोदय, एकान्त स्थल के प्रेम को एक-दूसरे के प्रति उद्दीप्त करते हैं । पूर्णिमा की रात्रि, ऋतु, कमल, मलयानिलि, चाँदनी आदि विप्रलम्भ

१. 'विभवः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः ।'—भरत नाट्य शास्त्र

शृंगार को बढ़ाते हैं, रंगमंच पर विदूषक के हाव-भाव, वेश-भूषा, कार्य-कलाप' वार्तालाप हास्य को उद्दीप्त करते हैं। प्रत्येक रस के उद्दीपन विभाव भिन्न भिन्न होते हैं। जैसे—

"सौरभ की शीतल ज्वाला से फैला उर उर में मधुर दाह।
आया बसन्त, भर पृथ्वी पर, स्वर्गिक सुन्दरता का प्रवाह।।"—पन्त

(२) अनुभाव—इसकी स्थिति विभाव के बाद है और स्थायी भाव का अनुभव कराने में समर्थ होते हैं। जिन कार्यों द्वारा रति आदि भावों का अनुभव होता है वह अनुभाव कहलाते हैं। अनुभाव के अन्तर्गत शारीरिक एवं मानसिक चेष्टाएँ आती हैं, इसीलिए अनुभाव के ४ भेद माने जाते हैं :—

(अ) कायिक—शरीर के अंग-प्रत्यंगों द्वारा चेष्टाएँ करने में जैसे भ्रू-संचालन, हस्त विक्षेप, कटाक्ष, ओष्ठ दंशन आदि में कायिक अनुभाव होता है। जैसे —

"बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी, पिय तन चिते भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैनंनि, निज पति कहेउ तिनहि सिय सैननि।"
—तुलसीदास

(ब) मानसिक—अन्तःकरण वृत्ति से उत्पन्न हुए प्रमोद, विवेक, असूया, खिन्नता आदि में यह अनुभाव होता है। जैसे—

"देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत वचन न आवा।।"
—तुलसीदास

(स) आहार्य—कृत्रिम वेष-विन्यास में आहार्य अनुभाव होता है। जैसे—

"काव्य पत्त सिर सोहत नीके, गुच्छा विच बिच कुसुम कली के।"
—तुलसीदास

(द) सात्विक—शरीर के स्वाभाविक अंग विकार जो स्वतः जागृत होते हैं। जैसे—स्वेद, कम्पन, रोमांच, अश्रु आदि में सात्विक अनुभाव होते हैं। ये आठ प्रकार के होते हैं :—

सात्विक

स्तम्भ	स्वेद	रोमांच	स्वर भंग	कम्पन	विवर्णता	अश्रु	प्रलय

(क) स्तम्भ--हर्ष, भय, रोग, विस्मय, विषाद आदि से अंगों का संचालन रुक जाता है। जैसे—

"मैं न कुछ कह सकी, रोक ही सकी न हाय।
उन्हें इस कार्य से, अकार्य से, विमूढ़ सी ॥" —भट्ट

(ख) स्वेद—क्रोध, हर्ष, श्रम, लज्जा, दुःख, उपघात के कारण पसीना आ जाना। जैसे—

"कृशोदरी कहीं चली है, लिये है बोझा छुटी है वेजी।
निकल के बहती है चन्द्रमुख से पसीना बनकर छटा की श्रेणी॥"

(ग) रोमांच—हर्ष, श्रम, स्पर्श, क्रोध, शीत आदि से शरीर का पुलकित या रोमांचित होना। जैसे—

"अरे यह प्रथम मिलन अज्ञात, विकम्पित मृदु उर पुलकित गात।" —पन्त

(घ) स्वर भंग—भय, हर्ष, क्रोध, मद, वृद्धावस्था, रोगादि से स्वाभाविक स्वर का बदल जाना, गदगद होना आदि। जैसे—

"कण्ठ घुटे गदगद गिरा, बोले जात न बैन।" —तुलसीदास

(च) कम्पन—शीत, भय, क्रोध, श्रम आदि के कारण शरीर में कम्पन होना। जैसे—

"सुन कर सिंह नाद वहाँ काँपे सब के गात।"

(छ) विवर्णता—मोह, क्रोध, भय, श्रम, शीत, ताप आदि से मुँह का रंग बदलना, चिन्ता की रेखा प्रकट होना। जैसे—

"ज्यों-ज्यों निशि नियरात है, त्यों-त्यों पिय पियरात।"

(ज) अश्रु—आनन्द, भय, शोक, अमर्ष के कारण आँसू उमड़ना, गिरना आदि। जैसे—

"उमड़ि उमड़ि बहै बरसै सु आँखिन ह्वै ।
घट में बसी जो घटा पीतपटवारे की ।।" —पद्माकर

(म) प्रलय—श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, मोह आदि के कारण देश, काल, लज्जा और तन का कुछ भी भान न होना, निश्चेष्ट हो जाना आदि। जैसे—

"दै चख चोट अँगोट मरा, तजी जुवति वन माँहि ।
खरी विकल कब की परी, सुधि शरीर की नाहिं ।।"

(३) संचारी भाव—स्थायी भावों के बीच-बीच में कुछ और भाव भी प्रकट होते रहते हैं जो कुछ क्षणों पश्चात् विलीन हो जाते हैं। इनका आविर्भाव और विलीनीकरण साधारणतः मस्तिष्क में होता रहता है। ये स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं तथा सभी रसों में यथा संभव संचार करते हैं, इसी से ये संचारी अथवा व्यभिचारी भाव के नाम से पुकारे जाते हैं। इनकी संख्या ३३ हैं :—

(१) निर्वेद—आपत्ति, अपमान, दारिद्र्य, ईर्ष्या के कारण अपने को कोसने या भर्त्सना करने का नाम निर्वेद है। जैसे—

"अब या तनहिं राखि का कीजै ।
सुनु री सखी! स्यामसुन्दर बिन बाँटि विषम विष पीजै ।।"

—सूरदास

(२) ग्लानि—शारीरिक कष्ट या मानसिक दुःख के कारण शरीर का कान्तिहीन होना, अंगों का शिथिल होना अथवा कार्य के प्रति उत्साह का मर जाना ग्लानि है। जैसे—

"यों कहि अर्जुन अति विकल समुझि महा कुलहानि ।
बैठ्यो रथ रण विमुख ह्वै, छांड़ि दिये धनुबानि ।।"

(३) शंका—अनिष्ट अथवा इष्ट हानि का अंदेशा होना शंका संचारी-भाव है। जैसे—

"हे मित्र मेरा मन न जाने हो रहा क्यों व्यस्त है ।
इस समय पल-पल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त है ।।"

—मैथिलीशरण गुप्त

(४) असूया—दूसरे व्यक्ति का सौभाग्य, ऐश्वर्य, उन्नति देखकर मन में ज़लन का पैदा होना तथा दुःख का अनुभव कर अवज्ञापूर्ण तथा ईर्ष्यापूर्ण बात कहना, भृकुटी चढ़ाना असूया भाव है। जैसे :—

"खाय मुठी तिसरी अब नाथ, कहा निजवास की आस बिसारी"

(५) मद—धन, यौवन, सौन्दर्य, मद्यपान आदि के कारण से उत्पन्न हर्ष-युक्त क्षोभ। जैसे :—

"रूपमद और वित्तमद अरु जोबन मद पाइ।
ऐसे मूढ़ मद भृत नर को सकै तेहि सिखार॥"

(६) श्रम—यात्रा, जागरण, व्यायाम आदि के कारण जँभाइ, अंगड़ाई, दीर्घश्वास लेना, काम-काज से अरुचि होना। जैसे :—

"पुर ते निकसी रघुबीर बधू, धरि-धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल-की, पट्ट सूखि गये मधुराधर वै॥"

(७) आलस्य—जागरण, गर्भ, श्रम आदि से उत्पन्न उत्साह हीनता या कार्य शैथिल्य। जैसे :—

"दौड़ सकती थी जो न भार लिये गर्भ का।
वह धिक्कारती थी मन में ही पति को॥"

—वियोगी

(८) दैन्य—दुःख, दरिद्रय, मनस्ताप आदि से उत्पन्न ओजहीनता या मलिनता। जैसे :—

"सीस पगा न झगा तन में प्रभु जाने को आहि बसे केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानह की नहिं सामा॥"

—नरोत्तमदास

(९) चिन्ता—इष्ट वस्तु की अप्राप्ति से उत्पन्न ध्यान, जैसे :—

"दृगन मूँद भौंहन जुरै कर तिय राखि कपोल।
अवधि बिती आए न पिय सोचत भाई अडोल॥"

(१०) मोह—जब चित्त विक्षिप्त हो जाता है, वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं रहता, शरीर आपे के बाहर हो जाता है तब मोह होता है। जैसे :—

"मोहन मोह रह्यो कब को, कब की वह मोहन मोहि रही है"

(११) स्मृति—सादृश्य वस्तु के दर्शन एवं चिन्तन से पहले की अनुभूतियों का जागना। जैसे :

"साघन कुंज छाया सुखद सीतल मन्द समीर।
मन है जात अजौ वहै वा जमुना के तीर॥"

(१२) धृति—विपत्ति पड़ने पर भी मन का अविचलता बनी रहना, नष्ट हो गयी वस्तु के लिये शोक न करना ही धृति है। जैसे :—

"क्यों संतापित हिय करौं भगि-भगि धनिकन द्वार।
मो सिर पर राजत सदा प्रभु श्री नन्दकुमार॥"

(१३) व्रीडा—स्त्रियों को पुरुष के देखने आदि से प्रतिज्ञा भंग, पराजय अनुचित कार्य करने से जो लज्जा लगती हैं। जैसे :—

"प्रथम समागम की कथा, बूझी सखिन जु आइ।
मुख नाइ सकुचाइ जिय, रही सुघूँघट नाइ॥"

(१४) चपलता—प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष आदि के कारण चित्त का अस्थिर होना, जैसे :—

"चितवति चकित चहूँ दिसि सीता, कहँ गये नृप किसोर मनचीता"

(१५) हर्ष—इष्ट वस्तु की प्राप्ति या सुनने पर मन का आनन्दित होना, जैसे :—

"मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दुखमय यह सरस संसार सुख का सिन्धु है॥"

(१६) आवेग—सुखद-दुखद घटना के कारण तथा प्रिय-अप्रिय बात के सुनने से चित्त का उत्तेजित होना या घबरा उठना, जैसे :—

"लागि-लागि आगि, भागि-भागि चले जहाँ तहाँ,
चित्रहू के कपि सों, निसाचर न लागि है॥"

(१७) जड़ता—इष्ट अथवा अनिष्ट को देखकर या सुनकर किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाना, जैसे :—

"मम प्रिय सुत हा ! हा राम ! राम !
यह कहकर रानी हो गयी चेतहीन।
जल तजकर जैसे खिन्न हो मीन दीन ॥"

(१८) गर्व—जैसे :—

"भीषम भयानक पुकार्यो रन भूमि आनि
छाई छिति छत्रिनि की गीति उठि जायगी
कहै रत्नाकर रुधिर सौं रुधैंगी धारा
लोथनि पै लोथनि की भीत उठि जावेगी ॥"

(१९) विषाद—कार्य में असफलता, असहायावस्था के कारण निरुत्साहित होना या अनुतप्त होना। जैसे :—

"सरसिज तन हा हा कण्टकों में खिचेगा।
घृत, मधु, पय, प्याला स्वेद ही से सनेगा ॥"

(२०) उत्सुकता—जैसे :—

मानुष हौं तो वही 'रसखान'
बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो,
चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन ॥"

(२१) निद्रा—जैसे :—

"चिन्तामग्न राजा घूमता है उपवन में
होकर विदेह सा बिसार आत्मचेतना
बन्द हुयी आँखें—हुआ शिथिल शरीर भी"—वियोगी

(२२) अपस्मार—मानसिक संताप के कारण मिरगी जैसी अवस्था हो जावे। गात्र कम्पन, मुखादि से फेन बहना, पृथ्वी पर गिर पड़ना आदि इसके अनुभाव हैं। जैसे :—

सुनिकै आये मधुपुरी हरि जदुकुल अवतंस।
बढ़्यो स्वांस भूतल परयो अति कंपित ह्वै कंस ॥"

(२३) स्वप्न—सुषुप्तावस्था में भी मस्तिष्क का संचलन होना स्वप्न है। जैसे :—

"क्यों करि झूठी मानिये, सूखि सपने की बात।
जु हरि रह्यो सोवत हिये, सो न पाइयत प्रात।।"

(२४) विबोध:—निद्रा अथवा अविद्या के नाश के पश्चात् चेतनता पाना विबोध हैं। जैसे :—

"हाथ जोड़ बोला साश्रु नयन महीप यों
मातृभूमि इस तुच्छ जन को क्षमा करो
धोऊँगा कलंक रक्त देकर शरीर का" 'आर्यावर्त्त'

(२५) अमर्ष:—निन्दा, अपमान, मानहानि आक्षेप आदि के कारण उत्पन्न चित्तवृत्ति अथवा असहिष्णुता अमर्ष है जिसमें नेत्रों का लाल होना, संपात, प्रतिकार, क्रूर वाक्य आदि अनुभाव हैं। जैसे :—

"सुनतहिं लषण कुटिल भई भौंहें, रदपट फरकत नयन रिसौंहें"
"जौं तुम्हारि अनुसासन पाऊँ, कन्दुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ
काँचे घट इमि डारौं फोरी, सकौं मेरु मूलक इव तोरी"

(२६) अवहित्था—आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है जिससे चित्त बहिस्थ न हो उसे अवहिस्थ कहते है।[1] लज्जा, गौरव और भय आदि के कारण से उत्पन्न हर्षादिभावों को चतुराई से छिपा लेना। जैसे :—

"सुनि नारद की बात तात निकट ह्वै नमित मुख,
उमा कमल के पात कर उठाय गिनने लगी।"

(२७) उग्रता—अपमान, दूषित व्यवहार आदि के कारण उत्पन्न होने वाली निर्दयता ही उग्रता कही जाता है। इसमें बध, भर्त्सना, ताड़ना आदि अनुभाव हैं। अमर्ष और उग्रता में यह अन्तर है कि अमर्ष में निर्दयता नही है, उग्रता में हैं। जैसे दशरथ के प्रति कैकेयी इन भर्त्सनापूर्ण बचनों में :—

भरत किरा उर पूत न होही। आनेहु मोल बेसाहिं कि मोहीं।।
जो सुनि सर अस लागु तुम्हारे। काहे न बोलेहु बचन बिचारे।।

---

१. "न वहिस्थं चित्तं येन" काव्यानुशासन

(२८) मति—शास्त्रादि के उपदेशों को ग्रहण कर अथवा तर्क आदि से किसी बात का निर्णय कर लेना । जैसे :—

जीभ जोग अरु भोग, जीभि बहुरोग बढ़ावै ।
जीभि स्वर्ग ले जाय, जीभि सब नरक किखावै ।।

(२६) व्याधि—रोग-वियोग आदि से उत्पन्न मन का संताप । जैसे :—

"मानस मन्दिर में सती पति की प्रतिमा थाप ।
जलती सी उस विरह में, बनी आरती आप" ।।

गुप्त जी, 'साकेत'

(३०) उन्माद—काम, शोक, भय आदि से चित्त का भ्रान्त होना । जैसे :—

"छिन रोवति छिन हँसि उठति छिन बोलत छिन मौन ।
छिन छिन पर छीनी परति भई दसा धौं कौन ।"

(३१) त्रास—जैसे :—

" 'भूषण' भनत सिंह साहि के सपूत सिवा,
तेरी धाक लेन अरि नारी बिललाती हैं ।
कोऊ करै घाती कोऊ रोती पीट छाती,
घरै तीन बेर खाती ते वै तीन बेर खाती हैं"

(३२) वितर्क—सन्देह के कारण मन में उत्पन्न ऊहापोह । जैसे :—

'दुख का जग हूँ या सुख की पल, करुणा का धन या मरु निर्जल
जीवन क्या है मिला कहाँ सुधि भूली आज समूल' महादेवी वर्मा

(३३) मरण—मरण की व्यंजना अमांगलिक होने के कारण इसको मूर्च्छा की अभिव्यक्ति के रूप में मानते हैं । 'रस गंगाधर, के रचयिता पंडितराज जगन्नाथ का भी यही मत है । जैसे:—

"सब सखियों से कह देना, बस सविनय यही वियोग कथा ।
जीवतेश के धाम गयी वह, सह न अधिक विरह-व्यथा ।।"

संचारी भावों द्वारा चित्त वृत्तियों तथा मनोभावों की व्यंजना होती है, अतएव इन ३३ संचारी भावों के अतिरिक्त अन्य संचारी भाव भी हो सकते हैं,

जैसे—उद्वेग, मात्सर्य, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कण्ठा आदि। किन्तु ये सभी भाव उक्त ३३ भावों के अन्तर्गत रख लिये जाते हैं, जैसे,—दम्भ के अवहित्था ,में मात्सर्य को असूया में, ईर्ष्या के अमर्ष में, क्षमा को घृति में, इत्यादि। महाकवि देव ने 'छल' को अलग ३४ वाँ संचारी भाव माना है, किन्तु अभी वह साधारणतया मान्य नहीं हुआ है।

(५) स्थायी भाव

जो भाव चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहते हैं और जिन्हें विरुद्ध या सजातीय भाग छिपा या दबा नहीं सकते, जो आलंबन उद्दीपन तथा अनुभाव आदि मिलकर रस रूप में प्रकट हो जाते हैं, उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। जैसे—मिट्टी के बर्तन में सुगन्ध पहले से ही विद्यमान रहती है, लकड़ी से अग्नि और फूल में सुगन्ध छिपी रहती हैं किन्तु पानी के छीटें पडने पर सोंधी मँहक, रगड़ खाने से अग्नि-ज्वाला और खिलने पर, तथा वायु के झंकोरे से सुगन्ध समक्ष आता है वैसे ही चित्त में स्थायी भाव सदैव बना रहता है। अनुकूल विभावादि से सम्बन्ध स्थापित होने पर स्थायी भाव विकसित होता है तथा संचारी भाव की सहायता से रस की अवस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार स्थायी भाव की ४ विशेषताएँ हैं :—

(१) अन्य भाव इसमें स्वतः विलीन हो जाते हैं।

(२) सजातीय तथा विरोधी भावों से नष्ट नहीं होता।

(३) आस्वाद का मूलभूत होकर विद्यमान रहता है।

(४) विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से परिपुष्ट होकर रस रूप ग्रहण करता है।

आचार्यों ने सिद्ध किया है कि मनुष्य के चित्त में सदैव स्थिर रहने वाले नौ स्थायी भाव हैं।

(१) रति—इसका अर्थ है प्रणय, अनुराग, प्रीति। जैसे :—

हृदय की कहने न पाती, उमंग उठती बैठ जाती।
मैं रही हूँ दूर जिनसे वह बुलाते पास क्यों? महादेवी

(२) हास—वचन, अंग, कार्य, रूप की विकृतता एवं विचित्रता से उल्लास या हँसी आना। जैसे :—

मक्खन, मलाई, दूध, घृत का विचार त्याग।
खोल मधुशाला एक साथी रख लीजिये॥
शंख चक्र गदा पद्म छोड़ चारो हाथ बीच।
घड़ी छड़ी हैट और हाकी रख लीजिये॥ चोंच

(३) शोक—अनिष्ट होने पर दुःख की उत्पत्ति, जैसे :—

किस विधि झेलूँ दुःख आलि कैसे घटेगी।
यहाँ अवधि बड़ी है हाय कैसे कटेगी॥

(४) क्रोध—विवाद एवं अपमानादि से उत्पन्न चित्त विकार। जैसे :—

उठ वीरों की भाव रागिनी, दलितों के दल की चिनगारी।
युग मर्दित यौवन की ज्वाला, जाग जागरी क्रान्तिकुमारी॥
—दिनकर

(५) उत्साह—कार्य करने में आवेश तथा शौर्य-प्रदर्शन की प्रबल इच्छा। जैसे :—

यदि रोकें रघुनाथ न तो मैं अभिनव दृश्य दिखाऊँ।
क्या है चाप सहित शंकर के मैं कैलाश उठाऊँ।
—रामचरित उपाध्याय

(६) भय—हिंसक जीवों या प्रबल शत्रु आदि को देखकर डर जाना जैसे :—

सिव समाज जब देखन लागे। बिडरि चले वाहन सब भागे।
धर धीरज तहँ रहे सयाने। बालक सब लै जीव पराने॥

(७) घृणा—घृणित वस्तु को देखकर या सुनकर नफरत का पैदा होना जुगुप्सा या घृणा है। जैसे :—

मल रुधिर राध मल थैली । कीकस वसादि ते मैली ।
नवद्वार बहें घिनकारी । अस देह करे किमि यारी ।।

(८) आश्चर्य—अलौकिक एवं अघटित घटना या वस्तु को देखकर ताज्जुब में पड़ जाना :—

"सुर नर सब सचकित रहे पारथ कौ रन देखि"

(९) निर्वेद—नित्य और अनित्य वस्तु के विचार से तत्व ज्ञान के द्वारा वीतरागता या वैराग्य का जागना । जैसे :—

सबहि सुलभ नित विषय सुख क्यों तू करत प्रयास ।
दुर्लभ यह नर तन अमुक्ति, करहु न वृथा निवास ।।

यही उपर्युक्त चित्त में सदैव स्थिर नवों भाव, विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों का परिपाक या स्थायी भाव नौ रस में परिणत हो जाते हैं :—

रस

श्रृंगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानक वीभत्स अद्भुत शान्त

(१) श्रृंगार रस
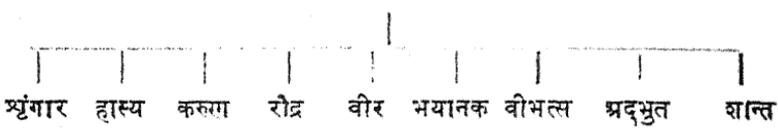
परिभाषा—'श्रृंग' तथा 'आर' दो शब्दों से बना है श्रृङ्गार; जिसका अर्थ है कामोद्रेक । 'ऋ' धातु से 'आर' शब्द बना है, अर्थ है 'गमन' । 'गमन' का अर्थ यहाँ पर 'प्राप्ति' है, अतः श्रृङ्गार का तात्पर्य है "काम-वृद्धि की प्राप्ति ।" इसके दो भेद हैं :—

(अ) संयोग श्रृंगार—इसे संयोग श्रृङ्गार भी कहते हैं । नायक-नायिका के पारस्परिक आलिंगन, अवलोकन, संभाषण एवं सामीप्य मिलन का अनुभव

करते हैं वहाँ 'संयोग शृङ्गार' होता है। इसमें निम्नलिखित तत्वों का होना आवश्यक है :—

आलम्बन—नायक-नायिका।

उद्दीपन—निर्जन स्थान, एकान्त, वसन्त ऋतु, नदी-तट, चाँदनी, संगीत तथा शारीरिक और प्राकृतिक दृश्य।

अनुभाव—एक-दूसरे को प्रेम से देखना, मुस्कराना, स्पर्श करना, रति सूचक आंगिक चेष्टाएँ।

स्थायी भाव—रति।

संचारी भाव—हर्ष, लज्जा, क्रीड़ा, औत्सुक्य, श्रम, गर्व।

गुण—माधुर्य; प्रसाद।

रीति—वैदर्भी, पांचाली।

जैसे :—

संयोग शृङ्गार के उदाहरण—

(१) "छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे, भरे सकोच सनेह॥"

(२) "छिनकु चलति ठठुकति छिनकु, भुज प्रीतम गल डारि।
चढ़ी अटा देखति घटा, विज्जु छटा सी नारि॥"

(३) "लखि दौरत पिय कर कटक, वास छड़ावन काज।
बरुनि बन दृग गढ़नि में रही गुढ़ौ करि लाज॥"

(४) "कंचुकी के बिन ही मृगलोचनि। सोहत तू अति ही मनभावन।
प्रीतम या कहिकै हँसिकै अपने कर ते लगे बंध छुटावन।
सस्मित बंक विलोकन कै ढिग देखि अलीन लगी सकुचावन।
लै मिस झूठी बना बतियाँ सखियाँ सनकै जु लगीं उठि धावन।"

इन उपर्युक्त पंक्तियों में नायिका आलम्बन, अंग शोभा, उद्दीपन, कंचुकी खोलने की चेष्टा अनुभाव और उत्कंठा आदि व्यभिचारी भाव हैं।

(ब) वियोग शृंगार—जब नायक-नायिका में उत्कृट प्रेम होने पर भी समागम न हो अथवा मिलकर विछोह हो जावे, तो उसे 'वियोग अथवा विप्रलम्भ

शृंगार' कहते हैं। इसके ५ भेद हैं :—(१) पूर्वानुराग अथवा अभिलाषा हेतुक, (२) मान अथवा ईर्ष्या हेतुक, (३) प्रवास, (४) करुण, (५) विरह।

(१) पूर्वानुराग—मिलन से पूर्व गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन और प्रत्यक्ष-दर्शन से जो अनुराग उत्पन्न हो। जैसे :—

साँवरो सो ढोटा एक ठाढ़ौ तीर जमुना के,
मो तन निहार्‌यो नीर भरी अखियान दै।
वा दिन ते मेरी ही दसा को कुछ बूझै मति,
चाहे जो जिवायो मोहि वाहि रूप दान दै।

(२) मान—मिलन के पश्चात् रूठने से जो वियोग होता है, उसे मान कहते हैं। जैसे :—

सुरंग महावर सौत पग निरखि रही अनखाय।
पिय अंगुरिन लाली लसै, खरी उठी लगि लाय॥

वियोग शृंगार में मान दो प्रकार का होता है :—

(क) प्रणयमान—इसके अन्तर्गत प्रेमी-प्रेमिका के बीच रुष्ट होने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। जैसे :—

कहा लेहुगे खेल में तजौ अटपटी बात।
नैकु हँसोही हैंभई भौहै सौहैं खात॥

(ख) ईर्ष्यामान—नायक में अन्य स्त्री के प्रति प्रेम उत्पन्न होने पर अथवा सम्बन्ध की शंका पर भी नायिका में जो रोष उत्पन्न होता है। जैसे :—

(१) सदन-सदन के फिरन की सदन फिरै हरिराय।
रुचै तितै बिहरत फिरौ कत बिहरत दुर आय॥
(२) मोहू सी बातनि लगे, लगी जीह जिहिं नायँ।
साईं लै उर लाइये, लाल लागियत पायँ॥

(३) प्रवास—मिलन के पश्चात् नायक के परदेश-गमन अथवा विदेश-प्रवास से जो वियोग उत्पन्न होता है। इस वियोग के तीन भेद भूत, वर्तमान और भविष्य तथा तीन कारण शाप, भय और कार्य हैं। जैसे :—

(१) "ललन चलन सुनि चुपि रही बोली आपन ईठि।
राख्यो गहि गाढे गरे मनो गलगली डीठि ॥"

—बिहारी

(२) "बामा, भामा, कामिनी, कहि बोलो प्राणेश।
प्यारी कहत लजात नहि, पावस चलत विदेस।"

(४) करुण—जब नायक-नायिका की मृत्यु अथवा मिलन की असंभाविता पर रति की प्रतीति होती है, तब करुण विप्रलम्भ होता है। जैसे :—

"ऊधौ कहौ सूधौ सो सनेस पहिलै तौ यह,
प्यारे परदेस तैं कधौं पग पारिहैं।
कहै रत्नाकर बिहारी परि बातन में,
मीडि हम कबलौं करे जौ मन मारिहैं।"

(५) विरह—प्रियतम के वियोग में प्रियतमा के हृदय में उसके मिलन की जो तड़पन उत्पन्न होती है, उसे विरह कहते हैं। जैसे :—

(१) दुसह बिरह दारुन दसा, रह्यो न और उपाय।
जात जात जिय राखिये, पिय की बात सुनाय ॥

(२) कहे जु बचन वियोगिनी, विरह विकल बिललाय।
किये न कोहि अँसुवा सहित, सुवा सुबोलि सुनाय ॥

विप्रलम्भ शृंगार में निम्नलिखित तत्वों की आवश्यकता होती है :—

(१) आलम्बन—नायक-नायिका।

(२) उद्दीपन—चाँदनी, कमल, कोकिल, चकवा, चकवी, गुण, श्रवण, चित्र दर्शन आदि, तथा संयोग पक्ष के उद्दीपन, इसके भी उद्दीपन विभाग होते हैं, किन्तु वे विरुद्ध प्रभाव डालते हैं।

(३) अनुभाव—अश्रुपात, उन्माद, प्रलाप आदि।

(४) स्थायी भाव—प्रेम या रति।

(५) संचारी भाव—मरण, विषाद, चिन्ता, उत्कंठा, दैन्य स्वप्न, अपस्मार।

(६) गुण—माधुर्य और प्रसाद।

(७) वृत्ति—वैदर्भी और पांचाली।

उदाहरण—

(१) साँझ न सुहात, ना सुहात दिन माँझ कछू।
व्यापी यह बात सो बखानत हौं तोही सौं॥
राति न सुहात ना सुहात परभात आली।
जब मन लगि जाति काहू निरमोही सों॥

—पद्माकर

(२) नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,
फूल को उर मे छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ,
दूर तुमसे हूँ, अखंड सुहागिनी भी हूँ।

—महादेवी वर्मा

विप्रलम्भ के अन्तर्गत वियोग की १० दशायें मानी गई हैं।

(१) अभिलाषा—आते अपने कमल कर से मेरा अंक मिटा देते।
आते मेरे घट का जीवन हाथों से ढरका देते॥

(२) चिन्ता—कुंजन में मैं गयी मिलन तापस कीन्हों योग।
धुनि रमाई प्रिय मिलन अर्थ तऊ न भयो संयोग।

(३) स्मरण—बिछुरे पिय के जग सूनो भयो।
अब का करिये कहि पेखिए का।
सुख छाड़िकै संगम को तुम्हरे।
इन तुच्छन को अब लेखिए का॥

(४) उद्वेग—दुःख के दिन को कोऊ भाँति बितै।
विरहागम रैन सँजोवती है॥

हम ही अपुना दशा जानै सखी ।
निसि सोवती हैं किधौं रोवती है ।

(५) गुणकथन—"हरिचन्द जू ही रन को व्यवहार कै ।
काँचन को लै परेखिये का ।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यो ।
उन आँखिन सों अब देखिए का ॥"

(६) प्रलाप—ग्वाल उडुगन बीच बेनु को बजाइ सुधा ।
रस बरसाइ मान कमल लजा दयो ।
गोरज-समूह घन पटल उघारि वह ।
गोप कुल कुमुद निसाकर उदै भयो ।

(७) व्याधि— हरिचन्द भये निरमोही इतै निज ।
नेह को यो परिनाम कियो ।
मन माँहि जो तोरन ही की हुती ।
अपनाइकै क्यों बदनाम कियो ॥

(८) जड़ता—हिलै दुहूँ न चलै दुहूँ दुहुँन बिसरिगे गेह ।
इकटक दुहुनि दुहूँ लखै, अटकि अटपटे नेह ॥

(९) उन्माद—अहो जमुना अहो खग मृग हो अहो गोवरधन गिरि ।
तुम देखे कहुँ प्रान पियारे मनमोहन हरि ॥

(१०) मरण—देख्यौ एक बार हूँ न नैन भरि तोहि याते ।
जौन जौन लोक जैहै तहीं पछितायँगी ।
बिन प्रान प्यारे भये दरस तुम्हारे हाय ।
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रह जायँगी ॥

(२) हास्य रस

परिभाषा—विकृत आकृति, वेश-भूषा अथवा वाणी बोलने वाले व्यक्ति या क्रिया-कलाप के कारण जो हँसी पैदा होती है। हास्य का सम्बन्ध मानसिक क्रिया से है। आचार्य भरत मुनि हास्य की उत्पत्ति श्रृङ्गार से मानते हैं,[1] किन्तु उसके

---

(१) श्रंगाराद्धिभवेद्धास्यः—भर सूत्र

विस्तृत सीमा-क्षेत्र को देखते हुए उसे मात्र-शृङ्गार तक सीमित नहीं किया जा सकता। इसके दो भेद हैं[२] :—

उदाहरण :—

(१)

हाथ अपने आप जाता है उधर—
खींचता जिस भाँति चुम्बक जोर से
आ गया लोहा निकट उसके अगर
बैठ जाता हाथ तब तत्काल है
जिस तरह सम पर ध्रुपद का ताल है।
बाल इनका कौन बाँका कर सके
धर पकड़ में भी न आ सकते कभी—
और चुन्दीं कौन बेढब धर सके।
फिसलती है धूल अब इस चाँद पर
बाल छिपते जा रहे हैं कान पर।

—बेढब बनारसी

कविता का अनुकरण (Parody) भी हास्य के अन्तर्गत रखा जाने लगा है जैसे :—

(२)

घन घमंड नभ गरजत घोरा।
टका हीन कलपत मन मोरा॥
दामिनि दमक रही घन माँही।
जिमि लीडर की मति थिर नाहीं॥

—ईश्वरी प्रसाद शर्मा

(अ) आत्मस्थ—हास्य के विषय को देखने मात्र से जो हँसी उत्पन्न हो।

(ब) परस्थ—दूसरे को हँसता हुआ देखकर हँसी आ जाना।

---

(२) आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नों विभावेक्षणमात्रतः।
हसन्तमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते। योऽसौ हास्यरसः तज्ञः परजूस्थः परकीर्तित :—

—रस गंगाधर

प्रकारान्तर से इसके छः भेद हैं:—

(क) स्मित—जिसमें नेत्र और कपोल विकसित होते हैं।

(ख) हसित—जिस हास्य में कुछ-कुछ दाँत भी दिखायी दें।

(ग) विहसित—जिस हास्य में मधुर ध्वनि हो।

(घ) उपहसित—जिस हास्य में सिर हिलने लगे।

(ङ) अपहसित—जिसमें हँसते-हँसते आँख में आँसू आ जावें।

(च) अतिहसित—जिसमें सारा शरीर हिलने लगे तथा हँसते-हँसते लोटपोट हो जाये।

इसमें निम्नलिखित भाव होते हैं:—

(१) आलम्बन—विकृत आकृति, वेश-भूषा, रंगमंच का विदूषक आदि।

(२) उद्दीपन—हास्य पैदा करने वाली चेष्टाएँ तथा क्रिया-कलाप।

(३) अनुभाव—शरीर का हिलना, मुखप्रसार, दाँतों का दिखाना, आँखों में आँसू आ जाना आदि।

(४) स्थायी भाव—हास।

(५) संचारी भाव—चपलता, हर्ष, उत्सुकता, अवहित्थ अश्रु, आलस्य आदि।

(६) गुण—प्रसाद

(७) रीति—पांचाली

उदाहरण—विकृति वेश से उत्पन्न हास्य।

काम कलोलन की बतियान में बीत गई रतियाँ उठि प्रात में,
आपने चीर के धोखे भटू झट प्रीतम को पहिर्‍यो पट गात में।
ले बनमाल कौं किंकिनी ठौर नितम्बन बाँधि लई अरसात में,
देखि सखीं विकसी तब बालहु बोलि सखी न कछु सकुचात में॥

(३) करुण रस

परिभाषा—द्रव्य, वैभव अथवा प्रिय के नाश तथा अनिष्ट की आशंका से यह रस उत्पन्न होता है। करुण रस से हृदय में शोक का आविर्भाव होता है।

(१) **आलम्बन**—प्रिय व्यक्ति या वस्तु का विनाश, पराभव, मृतक या दरिद्र व्यक्ति आदि।

(२) **उद्दीपन**—रुदन, चीत्कार, मृतकदाह, प्रिय के प्रेम, यश, गुण का स्मरण या चित्रावलोकन आदि।

(३) **अनुभाव**—विलाप, मूर्च्छा, उच्छ्वास, प्रलाप, जड़ता, पीला पड़ना, कम्प, भूमि-पतन, सिर फोड़ना आदि।

(४) **स्थायी भाव**—शोक।

(५) **संचारी भाव**—मोह अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, दैन्य, चिन्ता, विषाद, उन्माद, श्रम, निर्वेद आदि।

(६) **रीति**—वैदर्भी।

(७) **गुण**—माधुर्य।

उदाहरण—

(१) "प्रिय पति वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है?
दुःख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है?" हरिऔधजी

(२) "रोवहु सब मिलकै आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥" भारतेन्दु

(३) कौरवों का श्राद्ध करने के लिए,
या कि रोने को चिता के सामने।
शेष अब है रह गया कोई नहीं,
एक वृद्धा एक अन्धे के सिवा॥

—दिनकर

(४) रौद्र रस

शत्रु, शत्रु के पक्ष वाले, किसी अविनीत की कृतियों, चेष्टाओं, असाधारण अपराध, अपमान, अपकार या गुरुजनों की निन्दा के कारण उत्पन्न क्रोध से रौद्र रस का संचार होता है।

(१) आलम्बन—अनिष्ट करने वाला पुरुष, शत्रु या उसके पक्ष वाले धृष्ट व्यक्ति, देश-द्रोही, कपटी, दुराचारी आदि।

(२) उद्दीपन—आक्रमण, अविक्षेप, कठोर वाक्यों का प्रयोग, क्रोध को भड़का देने वाली वस्तुएँ गर्वोक्तियाँ, चालबाजियाँ आदि।

(३) अनुभाव—आँख-मुंह लाल होना, भृकुटि चढ़ाना, दाँत पीसना, गरजना, ताड़ना, ताड़ना, शस्त्र उठाना, कम्प होना, क्रूर दृष्टि, आवेग, मद, कठोर, कटु भाषण आदि।

(४) स्थायी भाव—क्रोध।

(५) संचारी भाव—उग्रता, अमग, वंर्ष, मद, आवेग, गर्व स्मृति, क्रूरता।

(६) गुण—ओज।

(७) रीति और वृत्ति—गौड़ी, परुषा।

उदाहरण—

(१) मिट जाय समस्त महीतल क्योंकि,
किसी ने किया अपमान किसी का।
जगती जल जाय कि छूट रहा है,
किसी पर दाहक बाण किसी का।
सबके अभिमान उठें बल क्योंकि,
लगा बलने अभिमान किसी का।
नर हो बलि के पशु दौड़ पड़े,
कि उठ बजे युद्ध विषाण किसी का।
—कुरुक्षेत्र

(२) माथे लखन कुटिल भइ भौंहें।
रद पट फरकत नैन रिसौहैं॥

(३) सूर्यास्त से पहले न जो मैं कल जयद्रथ बध करूँ।
लो सपथ करता हूँ स्वयं मैं ही अनल में जल मरूँ॥

(४) सुनत लषन के वचन कठोरा। परसु सुधार धरेऊ कर घोरा।
अब जनि देउ दोष मोहि लोगू। कैटु वादी बालक बध जोगू॥
—तुलसीदास

(५) वीर रस

प्रताप, विषय, अध्यवसाय, सत्व, अविषाद, विस्मय, विक्रम आदि विभावों से उत्साह स्थायी तथा परिपाक होने पर वीर रस होता है ।

(१) आलम्बन—तीर्थ, याचक, शत्रु, दीन, धर्मनिष्ठा आदि ।

(२) उद्दीपन—शंखनाद, याचक की दीनदशा, शत्रु का पराक्रम, युद्ध की ललकार और मारु वाद्यों का बजना ।

(३) अनुभाव—भृकुटि चढ़ाना, सैन्य-संचालन, अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग, आदर-सत्कार, रोमांच, गर्वीली वाणी आदि ।

(४) स्थायी—उत्साह

(५) संचारी भाव–गर्व, धृति, उत्सुकता, आवेश, श्रम, हर्ष, मरण आदि ।

(६) गुण—ओज और प्रसाद ।

(७) रीति तथा वृत्ति—गौड़ी, पांचाली, परुषा, कोमला । रस गंगाधर और साहित्य-दर्पण में इसके चार भेद किये गये हैं :—

(अ) युद्धवीर, (ब) दानवीर, (स) धर्मवीर, (द) दयावीर ।

उदाहरण—

दान समै द्विज देखि मेरहू कुबेरहू की,
सम्पत्ति लुटाइबे को हियौ ललकत हैं ।
साहि के सपूत सिव साहि के बदन पर,
शिव के कथान में सनेह झलकत हैं ।
भूषन जहान हिन्दुवान के उबारिबे को,
तुरकान मारिबे को वीर बलकत हैं ।
साहिन सो लरिबे की चरचा चलत आनि,
सरजा के दृगनि उछाह झलकत हैं ।

भूषण की उपर्युक्त रचना में वीररस के चारों अंगों का बड़ा ही सुन्दर समावेश है । प्रथम दो पंक्तियों में दानवीर, द्वितीय दो पंक्तियों में दयावीर, तृतीय दो पंक्तियों में धर्मवीर और अन्तिम दो पंक्तियों में युद्धवीर का वर्णन है ।

(अ) युद्धवीर—

(१) आलम्बन—शत्रु ।

(२) उद्दीपन—शत्रु का पराक्रम, उत्पीड़न ।

(३) संचारी—धृति, गर्व, तर्क ।

(४) अनुभाव—गर्वोक्ति करना, भुजाओं को फड़कना, मुट्ठी बँध जाना, रोमांच होना ।

उदाहरण—

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि
सरजा सिवाजी जग जीतन चलत हैं ।
भूषन भनत नाद बिहद नगारन को
नदी नद मद गैवरन के रलत हैं ।।
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल
गजन की ठैल पैल सैल उलसत हैं ।
तारा सो तरनि धूरि धारा पर लगत जिमि
धारा पर पारा पारावार यों हलत हैं ।।

(ब) दानवीर—

(१) आलम्बन—याचक, पर्व और दानयोग्य पदार्थ ।

(२) उद्दीपन—दाताओं के दान, याचक के मुख से प्रशंसा ।

(३) संचारी—हर्ष, गर्व आदि ।

(४) अनुभाव—याचक का आदर सत्कार, मुख पर आनन्द और सन्तोष की झलक ।

उदाहरण—

(१) "जो सम्पति शिव रावनहि दीन दिये दस माथ ।
सो सम्पदा विभीखनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ ।।" तुलसीदास

(२) "मैं जगदेव पमार प्रसिद्ध सराहित जाहि ससी अंसुमाली ।
सीस की मेरे कहा गिनती जिय राजी रहै कलि में जो कंकाली ।।"

(३) "आँसू से पद को धोकर धीमे-धीमे वह बोला,
'यह मेरी सेवा,' कह कर थैलों के मुँह को खोला।
खन खन खन मणि मुद्रा की मुक्ता की राशि लगा दी,
रत्नों की ध्वनि से वन की नीरवता सकल भगा दी।"

(स) धर्मवीर—

(१) आलम्बन—धार्मिक ग्रन्थ, उपदेश, तीर्थ स्थान।
(२) उद्दीपन—धार्मिक बातें, उपदेशों में धर्म व फल की प्रशंसा।
(३) संचारी—धृति और मति।
(४) अनुभाव—धर्माचरण और धर्म के लिए कष्ट सहना।

उदाहरण—

(१) "और जे टेक धरी मन माँहि न छाँडि हौं कोऊ करो बहुतेरौ।
धाक यही है युधिष्ठिर की धनधाम तजौं पै न बोल न फेरौ॥"
(२) "जलकर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी।
अच्युत युधिष्ठिर आदि का अब भार है तुम पर सभी॥"
(३) वंश पुरोहित का प्रताप ने, दाह कर्म करवा डाला।
देकर धन ब्राह्मण कुल के, खाली घर को भरवा डाला॥
जहाँ लाश थी ब्राह्मण की जिस जगह त्याग दिखलाया था।
चबूतरा बन गया जहाँ प्राणों का पुष्प चढ़ाया था॥"

(द) दयावीर—

(१) आलम्बन—दयनीय व्यक्ति।
(२) उद्दीपन—दीनदशा।
(३) अनुभाव—दयापात्र से सान्त्वना के शब्द।
(४) संचारी—धृति और हर्ष आदि।

उदाहरण—

(१) दीनदयाल है छत्रि को धर्म तहूँ सिवि हौं जग व्याधि नसाऊँ।
तू जनि सोचै कपोत के पोतक अपनी देह दै तोहि बचाऊँ॥

(२) को अस दीनदयाल भयो दसरथ के लाल से सूधे सुभायन ।
दौरे गयन्द उबारिये को प्रभुवाहन छाँडि उपाहने पायन ॥

(६) भयानक रस

भयप्रद वस्तु को देखने-सुनने से अथवा प्रबल शत्रु के विद्रोह आदि करने से हृदय में भय का संचार होता है, तो भयानक रस की सृष्टि होती है ।

(१) स्थायी भाव—भय ।

(२) आलम्बन—शत्रु, श्मशान, भूत-प्रेत की आशंका, बीहड़ या निर्जन स्थान, बाघ, साँप आदि हिंसक जीव, चोर, डाकू, बलवान शत्रु आदि ।

(३) उद्दीपन—निस्सहायता, शत्रु आदि की भयंकर चेष्टाएँ भयानक दृश्य, नीरवता ।

(४) अनुभाव—रोमाँच, स्वेद कम्पन, चिल्लाना, रोना, घिग्घी बँध जाना, स्वरभंग, वैवर्ण्य, पलायन, मूर्छा, भौचक्का होना आदि ।

(५) संचारी भाव—शंका, चिन्ता, ग्लानि, जुगुप्सा, दीनता, त्रास, दैन्य, भास आदि ।

(६) गुण—ओज ।

(७) रीति एवं वृत्ति—गौड़ी और परुषा ।

उदाहरण—

(१) चकित चकत्ता चौंकि उठे बार बार
दिल्ली दहसति चितै चाह करखति है ।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुरपति
फिरति फिरंगनि की नारी फरकति है ।
थर थर काँपति कुतुबसाहि गोलकुण्डा
हहरि हबस भूप भीर भरकति है ।
राजा शिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते पादसाहन की छाती दरकति है । —भूषण

(२) एक ओर अजगरहिं लखि एक ओर मृगराय ।
विकल बटोही बीचहीं परयो मूरछा खाय ॥

(३) भई आनि तब साँझ घटा आई घिरि कारी।
सनै सनै सब ओर लगी बढ़नि अँधियारी ॥
भये इकट्ठा आनि तहाँ डाँकनि पिचास गन।
कूदत करत कलोल किलकि दौरत तोरत तन ॥
आकृति अति विकराल धरे कुइला से कारे।
वक्र वदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे ॥

—रत्नाकर

(७) वीभत्स रस

रुधिर, आँत, पीब, हड्डी, चरबी, मांस आदि घृणित वस्तुओं को देखने या सुनने से हृदय में जो ग्लानि उत्पन्न होती है, उसी से वीभत्स रस उत्पन्न होता है।

(१) आलम्बन—घृणास्पद वस्तु या दृश्य।

(२) उद्दीपन—शव, मांस, रक्त में कीड़े आदि का पड़ना और सड़ना दुर्गन्ध, मक्खी का भिनभिनाना आदि।

(३) अनुभाव—थूकना, नाक बन्द करना, मुँह मोड़ना, रोमांचित होना, छी-छी करना।

(४) संचारी भाव—आवेग, व्याधि, मूर्छा, अपस्मार आदि।

(५) स्थायी भाव—जुगुप्सा।

(६) गुण—ओज।

(७) रीति व वृत्ति—गौड़ी और लाटी एवं परुषा।

उदाहरण—

(१) सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचहिं जीभहि स्यार अतिहिं आनन्द उर धारत ॥
गिद्ध जाँघ को खोदि खोदि कै मांस उपारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खात विदारत ॥

(२) लोहू जमने से लोहित सावन की नीलम घासें,
सरदी गरमी से सड़कर बजबजा रही थी लासें।

आँखें निकाल उड़ जाते क्षणभर उड़कर आ जाते,
शव जीभ खींचकर कौवे चुभला-चुभला कर खाते ।।

— हल्दीघाटी

(३) "मेद गूद चरबी की कीच मची मेदनी में,
बीच-बीच डोलैं भूत भैरों मद धारिकै ।
चायनि सौं चंडिका चबाति चंड मुंडन कौं,
दंतनि सौं अंतनि निचोरैं किलकारी कै ।।"

(८) अद्‌भुत रस

आश्चर्यजनक या अभूतपूर्व असाधारण वस्तु या घटना को देख कर या सुनकर जब आश्चर्य का परितोष होता है, तब अद्‌भुत रस उत्पन्न होता है ।

(१) स्थायी भाव—विस्मय ।

(२) आलम्बन—अलौकिक या आश्चर्यजनक वस्तु या घटना ।

(३) उद्दीपन—अद्‌भुत वस्तु या व्यक्ति का वर्णन वैचित्र्य या गुणकीर्तन ।

(४) संचारी—आवेग, हर्ष, मोह, वितर्क, शंका आदि ।

(५) अनुभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, संभ्रम, विस्फारित नेत्र आदि ।

(६) गुण—प्रसाद ।

(७) रीति या वृत्ति—पाँचाली और कोमला ।

उदाहरण—

(१) अम्बर लौं अम्बर अमर कियो वंशीधर,
भीषम करन द्रोन सोभा यों निहारी है ।
सारी मध्य नारी है कि नारी मध्य सारी है; कि,
सारी ही की नारी है कि सारी है कि नारी है ।।

(२) इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मति भ्रम मोरि कि आन बिसेखा ।।
देखि राम जननी अकुलानी । प्रभु हँसि दीन मधुर मुस्कानी ।।

—तुलसीदास

(९) शान्त रस

संसार और शरीर की नश्वरता से अथवा तत्वज्ञान द्वारा चित्त मेंएक विशेष प्रकार की उदासीनता उत्पन्न होती है तथा भौतिक व लौकिक वस्तुओं से विराग हो जाता है, तभी निर्वेद या शान्त रस का जन्म होता है।

(१) स्थायी भाव—निर्वेद या शम।

(२) आलम्बन—अनित्यरूप संसार की असारता का ज्ञान या परमात्म चिन्तन।

(३) उद्दीपन—बुढ़ापा, मरण, व्याधि, पुण्यक्षेत्र या ऋषि आदि का सत्संग, हितोपदेश आदि।

(४) अनुभाव—रोमांच, विलाप, संसार से विरक्ति आदि।

(५) संचारी—निर्वेद, हर्ष, स्मृति आदि।

(६) गुण—माधुर्य।

(७) रीति और वृत्ति—वैदर्भी और उपनागरिका।

उदाहरण—

(१) "दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥"

(२) "रहिमन निज मन की व्यथा मन ही राखौ गोय।
सुनि अविनैहै लोग सब, बाँटि न लैहै कोय॥"

इन ९ रसों के अतिरिक्त साहित्य दर्पण में दो अन्य रस माने गये हैं—(१) भक्ति रस, (२) वात्सल्य रस जिन्हें प्राचीन आचार्यों ने क्रमशः शान्त और शृंगार रस के अन्तर्गत माना है।

(१०) भक्ति रस

शाण्डिल्य सूत्र में कहा है "सा परानुरक्तिः इश्वरे" कि ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है। भारत की भूमि आध्यात्मिकता और धार्मिक भावनाओं से आच्छादित होने के कारण तथा रामायण और भागवत की कथाओं से यहाँ का चप्पा-चप्पा भक्ति-रस से प्लावित रहा। व्यापकता और उत्कटता की दृष्टि

से भक्तिरस शान्तरस से बढ़ा-चढ़ा है। भक्ति और शान्त दोनों भिन्न तथा अपने में पूर्ण रस हैं। इस प्रकार जहाँ ईश्वर विषयक प्रेम की भावों-विभावों द्वारा परिपुष्टि होती है, वहाँ भक्ति रस होता है।

१—आलम्बन—परमेश्वर, राम, कृष्ण, अवतार आदि।

२—उद्दीपन—ईश्वर के अद्भुत कार्य, भक्तों का सत्संग आदि।

३—संचारी—औत्सुक्य, हर्ष, गर्व, निर्वेद आदि।

४—अनुभाव—रोमाँच, गद्गद बचन आदि।

५—स्थायीभाव—ईश्वर के प्रीत प्रेम।

उदाहरण—

(१) "मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥
साधुन संग बैठि-बैठि लोक लाज खोई।
अब तो बात फैल गयी जाने सब कोई॥"

(२) "राम नाम मणि दीप धरु जीभ देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरो जो चाहसि उजियार॥"

(११) वात्सल्य रस

इस रस को हिन्दी काव्य में मान्यता दिलाने का श्रेय सूरदास जी को है जिसे उन्होंने रस की पूर्ण परिपक्वावस्था तक पहुँचा दिया कि वात्सल्य भाव एक अलग स्थायी भाव माना जाने लगा। प्राचीन आचार्यों में भी रुद्रट[1], भोज[2] और आचार्य विश्वनाथ[3] ने वात्सल्य रस को अलग रस माना है। वात्सल्य माता-पिता में अधिक रहता है विशेषकर माता में जिसके मन में गर्भस्थ शिशु के साथ ही वात्सल्य आरम्भ होता है फिर कुछ समय पश्चात् दुग्ध रूप में शरीर से फूट पड़ता है। वात्सल्य में सौन्दर्य भावना, कोमलता,

१. स्नेह प्रकृति प्रेयात—काव्यालंकार।

२. "शृंगार वीर करुणाद्भुतरौद्रहास्यवीभत्सवत्सल भयानक शान्तनाम्न।"

३. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः—साहित्यदर्पण।

आशा, शृंगार भावना, आत्माभिमान आदि अनेक भाव रहते हैं जिनके सम्मिश्रण से यह अत्यन्त प्रबल मनोभाव बन जाता है।

(१) आलम्बन—सन्तान।

(२) उद्दीपन—सन्तान का खेलना-कूदना, कौतुकपूर्ण चेष्टाएँ आदि।

(३) संचारी—अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व, चंचलता, उत्सुकता, श्रम।

(४) अनुभाव—ताली, चुटकी बजाना, हँसना, रोमांचित होना, मुख चूमना, आलिंगन करना आदि।

(५) स्थायी भाव—स्नेह।

उदाहरण

(१) कबहूँ ससि माँगत रारि करैं कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ के नाचत मातु सबै मनमोद भरैं॥
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेश के बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिर में विहरैं॥

(२) कौशल्या जब बोलन जाई ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहि पराई।
धूसर धूर भरे तनु आये, भूपित बिहँसि गोद बैठाये॥

(३) किलकत कान्ह घुटुरुवन आवत,
मनिमय कनक नन्द के आँगन, मुख प्रतिबिम्बहिं धावत।
कबहुँ निरखि हरि आप छाँह को कर सौं पकरन चाहत॥
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि पुनि तिहिं अवगाहत।
कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा इक राजति,
करि करि प्रति पद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजति।
बाल दसा-सुख निरखि जसोदा पुनि पुनि नन्द बुलावति,
अँचरा तर लै ढाँकि सूर प्रभु जननी दूध पियावति।

रसाभास

जब रस अपनी परिपुष्ट अवस्था में विकसित होकर भी अलौकिक आनन्द की अनुभूति न करावे बल्कि आभास मात्र ही दे सके तब वहाँ रसाभास होता है। जैसे सीप में चाँदी की झलक रहती है, वास्तव में चाँदी नहीं, वैसे ही

रसाभास में रस की झलकमात्र रहती है। रस की संख्या की दृष्टि से ही इसके भेद हैं :—

(१) शृंगार रसाभास—नायिका का उपनायका अथवा अनेक पुरुषों में रति भाव रखना, नायक का गुरुपत्नी, ज्येष्ठ और प्रतिष्ठित नारियों से प्रेम करना अथवा अपने से विपरीत पात्र में रति करने से शृङ्गार रसाभास होगा। जैसे—

मैं सोयी थी नहीं, छिपा मत मुझसे कुछ भी छोरी।
लो थी पकड़ कलाई उनने देती थी जब दान,
तूने मेरी ओर किया इंगित कि गयी मैं जान,
तब वे बोले दीख रही मैं जनम-जनम की भोरी।
उसके बाद उढ़ाया उनने मुझे स्वयं आ शाल,
तू हँस पायी भी न तभी सट काटे तेरे गाल,
किया तनिक सीत्कार कहा उनने कि खूब तू गोरी।

—जानकी बल्लभ शास्त्री

इस कविता में युवती दासी पर नायक का रति भाव है जिसे उसकी पत्नी देख लेती है।

(२) करुण रसाभास—विरक्ति में शोक होना।

(३) रौद्र रसाभास—गुरु, माता-पिता या अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति पर क्रोध करना।

(४) हास्य रसाभास—पूजनीय व्यक्तियों को हास्य का आलंबन बनाना।

(५) वीभत्स रसाभास—महाअधर्मी व्यक्ति तथा यज्ञ के बलि पशु के हिंसा में ग्लनि या घृणा होना।

(६) भयानक रसाभास—महान् तथा दिव्य पुरुषों के स्वरूप को देखकर भयभीत होना।

(७) वीर रसाभास—निम्न कोटि के व्यक्तियों में उत्साह होना।

(८) अद्भुत रसाभास—ऐन्द्रजालिक कार्यों में आश्चर्य करना।

(९) शान्त रसाभास—अयोग्य व्यक्ति में निर्वेद या शम होना।

भावाभास

जहाँ भावों का अनौचित्यपूर्ण वर्णन हो, अथवा जहाँ जिस भाव को प्रकट नहीं होना चाहिये वह प्रकट हो जाय तब वे भाव भावाभास कहलाते हैं । जैसे—

"दरपन में निज छाँह संग लखि प्रीतम की छाँह ।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माँह ॥"

यहाँ क्रोध का वर्णन है किन्तु साधारण कारण होने के कारण भावाभास है ।

भावशान्ति

जब एक भाव की व्यजंना हो रही हो, उसी समय किसी दूसरे विरोधी भाव की व्यंजना हो जाने पर पहले भाव की समाप्ति में जो चमत्कार होता है, उसे भावशान्ति कहते हैं । जैसे—

कितौ मनावत पीय तउ मानत नहीं रिसात ।
अरुण चूड़ धुनि सुनत ही तिय पिय हिय लपटात ॥

नायिका जो नायक से रूठने के कारण मान किये बैठी थी और किसी भी प्रकार नहीं मान रही थी मुर्गा के बोलने पर प्रातः आगमन जानकर एकदम नायक से आलिगन बद्ध हो जाती है ।

भावोदय

जहाँ किसी भाव के विलीन होते ही दूसरे भाव का उदय हो जावे और उसमें चमत्कार हो, तब भावोदय होता है । यह बहुत कुछ भावशान्ति के निकट है ।

भावसन्धि

जब समान चमत्कार वाले दो भावों का वर्णन एक साथ कर दिया जावे, तो वहाँ भावसन्धि होती है । जैसे—

प्रभुहिं चितइ पुनि चितइ महि राजत लोचन लोल ;
खेलत मनसिज मीन जुग जनु विधुमण्डल डोल ।

यहाँ उत्सुकता और लज्जा दोनों भाव वर्णित हैं ।

भावसबलता

जहाँ एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार बहुत से भावों का वर्णन एक ही स्थान पर किया जावे तो वहाँ भावसबलता होती है। जैसे—

"छिन रोवति छिन हँसि उठत छिन बोलति छिन मौन।
छिन छिन पर छीनी परत भई दशा धौं कौन॥"

यहाँ अश्रु, हर्ष, व्याधि और उन्माद का एक साथ वर्णन है।

गुण

रस को उत्कृष्ट बनाने का श्रेय गुण, रीति और अलंकार को होता है। जिस प्रकार शूरता—साहसिकता, कठोरता, उद्दंडता, नम्रता और माधुर्य आदि गुण मनुष्य की चेतन आत्मा के उत्कर्षक हैं उसी प्रकार काव्य की आत्मा रस को अभिवृद्धि देने में गुण सहायक होते हैं। अतएव जो रस के धर्म हैं और जिनकी स्थिति रस के साथ अचल है, वे गुण कहलाते हैं। गुण तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) माधुर्य गुण—वह गुण जो पाठक या श्रोता के हृदय को आनन्द से द्रवीभूत कर दे। यह गुण संयोग शृङ्गार से अधिक करुण रस, करुण रस से अधिक विरह शृङ्गार में में और विरह शृङ्गार से अधिक शान्त रस में होता है। कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के अक्षरों का, सानुनासिक अक्षर अर्थात् ङ, ञ, ण, न, म अन्य व्यंजनों के साथ संयुक्त हो, जैसे—रंजन, खंजन, चम्पा आदि, समास पदों का अभाव अथवा अल्प समास-पदों का प्रयोग होता है।

उदाहरण—

(१) निरखि सखी ये खंजन आये।
फेरे उन मेरे रंजन ने इधर नयन मन भाये।

(२) "अलि गुंजन की मद गुंजन सौं, बन कुंजन मंजु बनाय रह्यो ;
लगि अंग अनंग तरंगन सौं, रति रंग उमंग बढ़ाय रह्यो।
बिकसे सर कंजन कंपित कै, रज रंजन लै छिरकाय रह्यो ;
मलयानिल मन्द दसौं दिसि मैं, मकरन्द अमंद फलाय रह्यो।"

(२) ओज गुण—जिस काव्य के सुनने से चित्त में स्फूर्ति और मन में तेज उत्पन्न हो, उसमें ओज गुण होता है। यह गुण वीर रस में होता है। वीर रस से अधिक वीभत्स में तथा वीभत्स से अधिक रौद्र रस में होता है। इसमें द्वित्व वर्णों, संयुक्त वर्णों 'र' के संयोग से, टवर्ग और समास की अधिकता से तथा कठोर वर्णों का प्रयोग होता है। जैसे—

(१) "मरकट युद्ध विरुद्ध क्रुद्ध अरि उट्ट दपट्टहिं।
अब्द शब्द करि गर्ज तजि झुकि झपि झपट्टहिं।।"

(२) "चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठे बार बार।
दिल्ली दहसति चितै चाहक रखति हैं।
× × × ×
थर थर काँपति कुतुबसाहि गोलकुण्डा।
हहरि हबस भूप भीर भरकति हैं।।"

(३) प्रसाद गुण—यह गुण अन्य रचना को सरल तथा सुबोध बनाकर पाठकों या श्रोताओं के हृदय में शीघ्र ही रचना का बोध करा देता है। जैसे—

शुष्केन्धनाग्निवत स्वच्छ जलवत्सहसैवयः।
ण्यारनोत्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहित स्थितिः।।

अर्थात् सूखे ईंधन में आग के प्रकाश व स्वच्छ कपड़े में जल की आभा की तरह प्रसाद गुण द्वारा चित्त में एक साथ अर्थ का प्रकाश हो जाता है। यह सभी रसों में व्याप्त रहता है।

उदाहरण

(१) "सिखा दो ना हे मधुप कुमारि मुझे भी अपना मीठा गान।
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ कुछ मधुपान।।"

(२) "श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं।
नवकंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुणम् ॥

× × × ×

रघुनन्द आनन्द कन्द कोसल चन्द दसरथ नन्दनं।
सिर मुकुट कुंडल तिलक चारु उदारु अंगविभूषनं ॥"

इस प्रकार सरल, सुबोध और मृदु पदावली प्रसाद गुण की अभिव्यंजना करते हैं।

रीति

विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं।[१] आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कह कर रीति को काव्य की आत्मा माना है तथा Coleridge ने "The best words in the best order" कहकर उत्तम शब्दों की उत्तम रचना माना है। रीति तीन प्रकार की होती हैं—
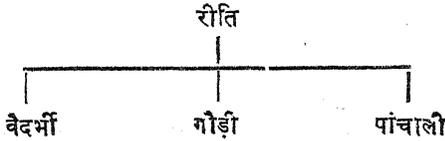
(१) वैदर्भी—जिस रचना में टवर्ग का अभाव, मधुर वर्ण, अनुनासिक और अनुस्वार वाले वर्ण, बड़े-बड़े समास न होकर लघु समास हों वहाँ वैदर्भी रीति अथवा उपनागरिका वृत्ति मिलती हैं। इसके अनुकूल माधुर्य गुण माना गया है। जैसे—

"जनकपुर की राज कुंज विहारिका।
एक सुकुमारी सलोनी सारिका ॥" —गुप्त

१. "विशिष्ट पद रचना रीतिः।"—काव्यालंकार सूत्र

(२) गौड़ी—ओज प्रकाशक वर्णों से युक्त रचना को गौडी रीति या परुषा वृत्ति कहते हैं। जैसे—

"गूँजे जयध्वनि से आसमान, सब मानव-मानव हैं समान।
निज कौशल मति इच्छानुकूल, सब कर्म निरत हों भेद भूल ॥"

—पन्त

(३) पांचाली—जहाँ सरल, सुबोध भाषा में कर्ण-कटु शब्दों का परिहार कर काव्य की रचना की जाती है, वहाँ पर पांचाली रीति या कोमला वृत्ति होती है। जैसे—

"देवर की शर की अनी बना कर टाँकी।
मैंने अनुजा की एक मूर्ति है आँकी।
आँसू नयनों में हँसी बदन पर बाँकी।
काँटे समेटती फूल छींटती झाँकी।
निज मन्दिर उसने यही कुटीर बनाया !" —गुप्त

छन्द के कलेवर में गुम्फित भाव सहस्रों श्रोताओं को मन्त्र मुग्ध कर देता है क्यों? क्योंकि छन्द संगीत की योनि है, कविता की प्रारंभ है। मानव क्या, पशु-पक्षी और सर्प, चेतन एवं अचेतन सभी इसके आकर्षण को अनुभव करते हैं और लय पर कौन नहीं झूम उठता। छन्द का यह अविचल प्रभाव आज से नहीं अति प्राचीन काल से चला आ रहा है क्योंकि छन्द प्रकृति की वाणी है, आदि मानव की आदिम अभिव्यक्ति का आदिम माध्यम।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने छन्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "किसी भी भाषा के रूप को सँवारने के लिए जिस प्रकार शब्द-योजना, पद-योजना और शैली आवश्यक है उसी प्रकार वर्णनीय वस्तु को सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए छन्द-योजना भीं अत्यन्त लाभदायक है।"[1] छन्दोबद्ध साहित्य रुचिर और चमत्कार पूर्ण होने के साथ ही साथ दीर्घ जीवी भी होता है। यही कारण है कि वैदिक

---

१. काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित ॥

—सुवृत्त तिलक—आचार्य क्षेमेन्द्र

कालीन गद्य रचना तो हमें आज-अप्राप्य है जब कि वेद छन्दबद्ध होने के कारण आज भी जीवित हैं।* इसलिए लगभग सभी प्राचीन साहित्य—धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, व्याकरण कोष, अलंकार, कथा-साहित्य, पुराण, इतिहास, रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र इत्यादि छन्द का आश्रय लेकर ही लिखे गये हैं। छन्दों की क्रियात्मक उपयोगिता पर दृष्टिपात करते हुए छान्दोग्य उपनिषद में लिखा है—

"देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्,
ते छन्दोभिरात्मानमाच्छादयन
यदेभिराच्छादयंस्तच्छन्दसांछन्दस्तवम्।'

अर्थात् देवताओं ने मृत्यु से भयभीत होकर अपने आपको अर्थात् अपनी कृतियों को छन्दों में ढाँप लिया। मौत से आच्छादन के कारण ही छन्दों को छन्द कहते हैं। एक दूसरे स्थान पर सायणाचार्य ने कहा है कि "अपमृत्युं वारयितुमाच्छादयतिति छन्द" अर्थात् कलाकार और कलाकृति को छन्द अपः मृत्यु से बचाता है। ऋगवेद के सायण द्वारा किये भाष्य में एक स्थान पर लिखा है—"छादयन्ति ह्वा एनं छन्दांसि पापात्कर्मण:"अर्थात् छन्द मूल पाठ को पाप-कर्म अर्थात् मिश्रण, मिलावट और क्षेपकत्व से बचाता है।

संसार की समस्त रचनाएँ तीन रूपों में पाई जाती हैं—पद्य, गीत, गद्य। वेद को 'छन्दस्' कहा गया है। वेद के पद्य भाग को ऋक या मंत्र, गीत भाग का साम और गद्य भाषा के कुछ अंश को यजुः और कुछ को ब्राह्मण कहते हैं। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में ७ छन्दों का प्रयोग मिलता है—

(१) गायत्री—२४ वर्ण, (२) उष्णिक—२८ वर्ण, (३) अनुष्टुप—

---

* "The credit of preserving without serious corruption the Vedic texts may be largely due to the fact that they are in a fixed metrical form."

—*On Vedic Metre by Mr. Ghate*

३२ वर्ण, (४) वृहती—३६ वर्ण, (५) त्रिष्टुप—४४ वर्ण, (६) जगती—४८ वर्ण, (७) पंक्ति—४० वर्ण। कात्यायन ने कालान्तर में इन्हीं छन्दों के बहुत से भेद किये जो लौकिक छन्द कहलाये।

किसी देश की भाषा उस देश के निवासियों की अभिव्यक्ति की ललित और मनोहर साधन होती है। छन्द उस भाषा को स्निग्धता, माधुर्य, गति और मोहकता प्रदान करता है। छन्द का अर्थ होता है—शासन अर्थात् शब्द-प्रवाह को संयम में रखना और यह संयम पद, मात्रा, वर्ण, यति, संगति आदि से होता है। पाश्चात्य देशों में भी विद्वानों ने छन्द की प्रकृति और उसके उद्देश्य की व्याख्या की है। इनमें से कतिपय नीचे उल्लेखनीय हैं :—

(१) अरस्तू—छन्द वह रीति है जिसके द्वारा दो अवधियों के शब्द एक प्रकार से ध्वनित किये जायं।

(२) ब्लेयर—एक जैसे ध्वनि-समूहों की आवृत्ति ही छन्द है।

(३) शूत्से—दो पद्यों के अन्त में दो ध्वनि-मात्राओं की मिलती हुई एक सी ध्वनि वाले पद्य को छन्द कहते हैं।

(४) एडविन गेस्ट—एक प्रकार से व्यवस्थित ध्वनि वाली मात्रा-ध्वनियों को विशेष क्रम से रखने को छन्द कहते हैं।

(५) जिर मुन्सकी—छन्द वह ध्वन्यात्मक आवृत्ति है जो पद्य की छन्दोबद्ध रचना में व्यवस्था उत्पन्न करता है।

(६) क्विण्टीलियन—दो या कई वाक्यों को एक समान तुकान्त करने की कवि-कुशलता को छन्द कहते हैं।

(७) आर्मो—छन्द कान के लिए है आँख के लिए नहीं।

इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के मतों पर दृष्टिपात करने के

पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि छन्द का सीधा सम्बन्ध संगीत से जुड़कर अर्थ-सौन्दर्य और ध्वनि-सौन्दर्य की सृष्टि करना है।

"छोटी-सी भी ध्वनियों का तोल-माप में बराबर होना छन्द रचना का मूल आधार है। ध्वनियों को बराबर करने के विशेष नियम हैं। इन नियमों में बँधी हुई ध्वनियाँ ही लय उत्पन्न कर सकती हैं और इन्हीं नियमों में आबद्ध रचना को छन्द कहते हैं।"*

छन्द शास्त्र

काव्य के अन्तर्गत गद्य और पद्य समाहित हैं एवं गद्य और पद्य का मिश्रण चम्पू काव्य कहलाता है। गद्य वह रचना है जिसमें मात्रा, गति, प्रवाह आदि का नियमित नियम नहीं होता किन्तु अर्द्ध विराम, विराम और व्याकरण के अन्य नियमों का पालन किया जाता है। इसके विपरीत पद्य वह रचना है जिसमें व्याकरण के नियम इतने आवश्यक नहीं समझे जाते वरन् यति, गति, मात्रा, लय, वर्ण, तुकान्त आदि का पालन अत्यन्तावश्यक हैं। प्रत्येक कविता में कवि के हृदय से निकला हुआ निजी संगीत होता है, इसीलिए कविता और संगीत का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अतएव जिस शास्त्र में पद्य-रचना का नियम, लक्षण, भेद आदि विषयों पर विचार किया जाता है वह पिंगल शास्त्र या छन्द शास्त्र कहलाता है। पिंगल छन्द का समानार्थी शब्द है। इस शास्त्र के सर्वप्रथम रचयिता महर्षि पिंगल थे जो शेषनाग के अवतार माने जाते थे और इन्हीं के नाम पर शास्त्र का नामकरण हुआ। कहा जाता है, इनके ग्रन्थ में १,६७,७७,२१६ प्रकार के वर्ण-वृत्तों का उल्लेख है।

छन्द का अर्थ है 'बन्धन' और बिना बन्धन के रचना गद्य की सीमा में आ जावेगी। पद्य बनाये रखने के लिए यति, गति, लय, मात्रा तथा तुकान्त के नियमों का पालन करना आवश्यक है। लय के अधिक लचीले तथा विशिष्ट रूप को छन्द कहते हैं। अथवा जिस रचना में वर्ण, मात्रा, लय, गति, यति, और

* हिन्दी छन्द प्रकाश—रघुनन्दन शास्त्री, पृष्ठ २६।

चरण संबंधी नियमों का पालन और वर्णन हो, उसे छन्द कहते हैं। नीचे संक्षेप में इन नियमों से क्या तात्पर्य है, बताते हैं।

यति—किसी छन्द को पढ़ते समय नियमित अक्षरों अथवा मात्राओं पर जहाँ रुकना पड़ता है उसे यति, विराम या विश्राम कहते हैं। जैसे—

मेरे जीवन की उलझन, बिखरी थी उनकी अलकें।
पी ली मधु मदिरा किसने, थी बन्द हमारी पलकें॥

इस छन्द में 'उलझन', 'अलकें', 'किसने' और 'पलकें' के बाद यति है।

गति—प्रत्येक छन्द में गति या प्रवाह होना आवश्यक है ताकि पढ़ने में रुकावट न पड़े। गोति प्रवाह को गति कहते हैं। वर्ण-वृत्तों में तो इसकी विशेष अपेक्षा नहीं रहती लेकिन मात्रिक छन्दों में इसकी ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। जैसे—

जो गति है दीप की कुल कपूत को सोय।
बारे उजियारो करै, बढ़ै अंधेरो होय॥

यदि इसी छन्द को थोड़ा-सा उलट दिया जाय, तो गति का अभाव स्वभावतः हो जावेगा और तब वह छन्द नहीं रह जावेगा। जैसे—

गति है दीप की जो, कपूत कुल की सोय।
करै उजियारो बरै, अन्धेरो बढ़ै होय॥

उपर्युक्त छन्द में मात्राएँ सब बराबर हैं किन्तु गति के अभाव में दोषयुक्त हो गया।

मात्रा—किसी अक्षर या वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। देवनागरी वर्णमाला में दो प्रकार के अक्षर होते हैं—(१) दीर्घ—आ, पा, ऊ, नी, सा आदि, (२) ह्रस्व—अ, प, उ, न, स आदि। पिंगल शास्त्र के अनुसार दीर्घ अक्षरों की मात्रा को गुरु एवं ह्रस्व को लघु कहते हैं। मात्रा-गणना में गुरु और लघु के संकेत चिह्न प्रयुक्त होते हैं—

दीर्घ अथवा गुरु (ऽ) = २ मात्राएँ।

ह्रस्व अथवा लघु (।) = १ मात्रा
जैसे—

। ऽ । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ । । ऽ ।
बिना विचारे जो करै, सों पाछे पछताय ।
ऽ । । ऽ ऽ ऽ । ऽ । । ऽ ऽ । । ऽ ।
काम बिगारो आपनो, जग में होय हँसाय ॥

लघु और गुरु नियम

लघु और गुरु वर्णों को पहचानने के तथा निर्धारित करने के लिए कतिपय नियम हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

(१) लघु वर्ण के लिए एक मात्रा और गुरु वर्ण के लिए दो मात्राएँ गिनी जाती हैं । व्यंजन की मात्राओं का विचार उनके साथ जुड़े हुए स्वर के अनुसार किया जाता है । जैसे 'सीतापति' में 'सी' और 'ता' गुरु तथा 'प' और 'ति' लघु हैं । इस प्रकार इसमें ६ मात्राएँ हैं ।

(२) विसर्ग [ः] से युक्त लघु वर्ण भी गुरु मात्रा वाला माना जाता है, जैसे—दुःख, निःश्वास, में 'दुः' और 'निः' लघु होते हुए भी गणना के समय गुरु माने जावेंगे ।

(३) अनुस्वार [ं] से युक्त ह्रस्व अक्षर भी दीर्घ या गुरु मात्रा वाला माना जाता है । जैसे—गंगा, तरंग, पंखा, झंडा आदि में 'गं, रं, पं, और झं' में गुरु मात्रा है क्योंकि इनके उच्चारण में समय अधिक लगता है ।

(४) जिस वर्ण के ऊपर अर्द्ध-अनुस्वार या चंद्रविन्दु (ँ) हों उसमें एक ही मात्रा मानी जाती है अर्थात् वह लघु गिना जाता है । जैसे—'हँसाय', 'फँसाना', आदि में 'हँ' और 'फँ' लघु हैं ।

(५) संयुक्त वर्ण में पहले का अक्षर दीर्घ माना जाता है । जैसे—'सत्कार', 'सत्य', 'अक्षर' में स, स और अ मात्रा-गणना में द्विमात्रिक है अर्थात् गुरु माने जावेंगे ।

(६) संयुक्त वर्ण में यदि पहले का अक्षर दीर्घ है तो उसमें आधा अक्षर नहीं जुड़ता। जैसे—'शांत', 'गार्गी' में 'शा' और 'गा' में आधा 'न' और आधा 'र' नहीं जुड़ेगा।

(७) यदि प्रारम्भ का ही अक्षर आधा हो, तो उसकी गणना नहीं की जाती। जैसे-'स्पर्धा', 'स्वयं', 'प्यार' में आधा 'स' और आधा 'प' बाद वाले अक्षरों के साथ नहीं जुड़ेगा।

(८) कभी-कभी संयुक्त वर्ण में पहले का अक्षर दीर्घ नहीं माना जाता क्योंकि उसकी ध्वनि दुर्बल होती है। जैसे—'कुम्हार', 'दुर्बल' में 'कु' और 'दु' एकमात्रिक अर्थात् लघु हैं।

(९) हलन्त अक्षर (क्, ख्, ग्) के पहले वाले अक्षर को दो मात्राएँ गिनी जाती हैं और हलन्ताक्षर को मात्रा नहीं गिना जाती। जैसे—

सत्, चित्, परिषद्, चिदम्बरम्।
S S ।।S ।S।S

(१०) इ, उ, और ऋ की ह्रस्व मात्राओं की गणना नहीं होती।

इस प्रकार साधारणतया उपर्युक्त नियमों के आधार पर मात्राओं की गणना करनी चाहिए लेकिन यही नियम पत्थर की लकीर नहीं है, इनके अपवाद भी हो सकते हैं। इसलिए प्रमुखतः इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी अक्षर के उच्चारण में जो समय लगे, उसी के अनुसार मात्रा की गणना करनी चाहिए। जैसे—

"मोहि सुख बहुत कन्हैया दीन्हा।"

इसमें 'मो' दीर्घ होते हुए भी मात्रा-गणना में लघु माना जायेगा क्योंकि उच्चारण में समय कम लगता है।

(११) जहाँ शब्दों का समास हो उसमें दूसरे शब्द का प्रथम वर्ण संयुक्त वर्ण होता है तथा पूर्ववर्ती लघु वर्ण भी दीर्घ हो जाता है। जैसे—

जन्म-स्थान, धर्म-स्थविर।
SSS। SS ।।।

लय—प्रकृति के इस विशाल क्षेत्र में चर, अचर, जंगम, स्थावर जिसमें भी जीवन है उसमें लय अवश्य है क्योंकि जीवन-शक्ति का मूल तत्व लय है। लय और छन्द का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और छन्द कवि के अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति है जिस पर नियम का बन्धन है और उस अभिव्यक्ति का सामंजस्य लय के साथ है।

तुक—किसी पद्य के प्रत्येक चरण के अन्तिम अक्षर या शब्द को तुक कहते हैं। जिस पद्य के ऊपर-नीचे के चरणों के अन्तिम शब्द एक मेल के रक्खे जाते हैं, वह पद्य सतुकान्त और जिसमें बेमेल रहता है, उस कविता को अतुकान्त कहा जाता है। जैसे—

तुकान्त—बरु भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देहु विधाता॥

अतुकान्त—अपने सपनों की सुई तले
किसी रेकार्ड सी
जो स्वयं घूमती है गाती है
जिसकी जवानी

खुद जिसके लिए क्लोरोफार्म का।
एक मीठा नींद भरा हलका झोंका है॥

चरण—मात्रिक छन्दों को पढ़ते समय जहाँ रुकना पड़ता है उसके पूर्व का समस्त पद एक चरण कहलाता है। जैसे—

तड़प-तड़प माली अश्रु, धारा बहाता।
मलिन मलिनिया का दुःख, देखा न जाता॥

उपर्युक्त पद्य में 'तड़प तड़प माली अश्रु" एक चरण है "धारा बहाता" दूसरा चरण है। इसी प्रकार द्वितीय पंक्ति में भी दो चरण हैं। चरण को ही पद या पाद भी कहते हैं।

छन्द-भेद

मात्रा और वर्णों के विचार से छन्दों के निम्न तीन मुख्य भेद तथा अन्य प्रभेद हैं :—
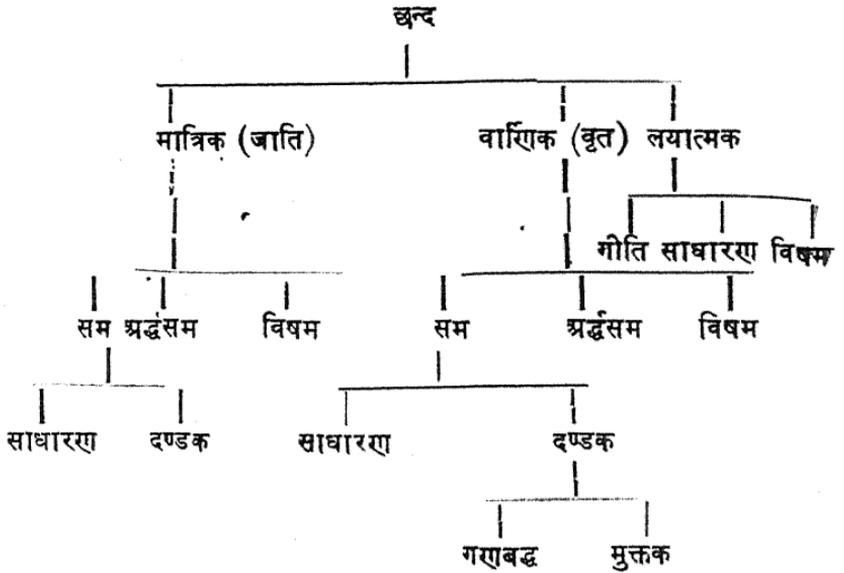
(१) वार्णिक छन्द—"गलसमवेत स्वरुपेण नियता वाग वृत्तम" 'छन्दः परिमल, में वार्णिक छन्द की परिभाषा इन शब्दों में की है। तात्पर्य यह है, जिसके चारों चरणों में लघु गुरु के नियमानुसार वर्णों की संख्या और क्रम आदि से अन्त तक समरूप रहती है।

(२) मात्रिक छन्द—'छन्द : परिमल' में इसकी परिभाषा यों दी है—"मात्राक्षर संख्यया नियता वाक् छन्दः" जिसके चारों चरणों में मात्राओं की संख्या यति नियम के साथ हो, अक्षर या वर्ण भले ही कम-ज्यादा हों, तो कोई हानि नहीं।

उपर्युक्त दोनों भेदों के सम, अर्द्धसम और विषम तीन प्रभेद हैं।

(अ) सम—जिन छन्दों में चारों चरण एक से हों तथा उनकी मात्राओं

और वर्णों में समानता पायी जाती हो, वहाँ मात्रिक सम अथवा वार्णिक सम छन्द होता है।

मात्रिक सम—चौपाई, हरिगीतिका, रोला आदि।

वार्णिक सम—बसन्ततिलका, मालिनी, त्रोटक आदि।

(ब) अर्द्धसम–जिस छन्द के पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरण में बराबर मात्राएँ हों अथवा वर्ण क्रम एवं संख्या समान हो। वार्णिक अर्द्ध-सम का प्रयोग विशेषतः संस्कृत में ही पाया जाता है।

मात्रिक अर्द्धसम—दोहा, सोरठा, बरवै आदि

वार्णिक अर्द्धसम—

(स) विषम—जिसके चारों चरण के वर्ण या मात्रा असमान हों। इसमें चरणों की संख्या भी न्यूनाधिक हो सकती है। हिन्दी भाषा में इन छन्दों का प्रचार कम है।

वार्णिक और मात्रिक सम छन्दों के पुनः दो भेद हैं—

(क) सम साधारण—जिन सम छन्दों में १ से २६ तक मात्राएँ अथवा वर्ण होते हैं।

(ख) सम दण्डक—जिसमें एक से लेकर बत्तीस मात्राएँ या वर्ण होते हैं।

सम दण्डक वार्णिक (वृत्त) छन्द के अन्य दो भेद होते हैं।

(१) गणबद्ध—तीन-तीन वर्णों के समूह को एक गण कहते हैं। ये संख्या में ८ होते हैं :—

नाम—	यगण,	मगण,	तगण,	रगण,	जगण,	भगण,	नगण,	सगण
चिह्न—	।SS	SSS	SS।	S।S	।S।	S।।	।।।	।।S

गणों के नाम तथा लक्षण स्मरण रखने के लिए अग्रलिखित सूत्र और दोहे बड़े उपयोगी हैं।

श्री रघुनन्दन शास्त्री ने छन्दों का विभाजन कर निम्न ढंग से तालिका प्रस्तुत की है :—
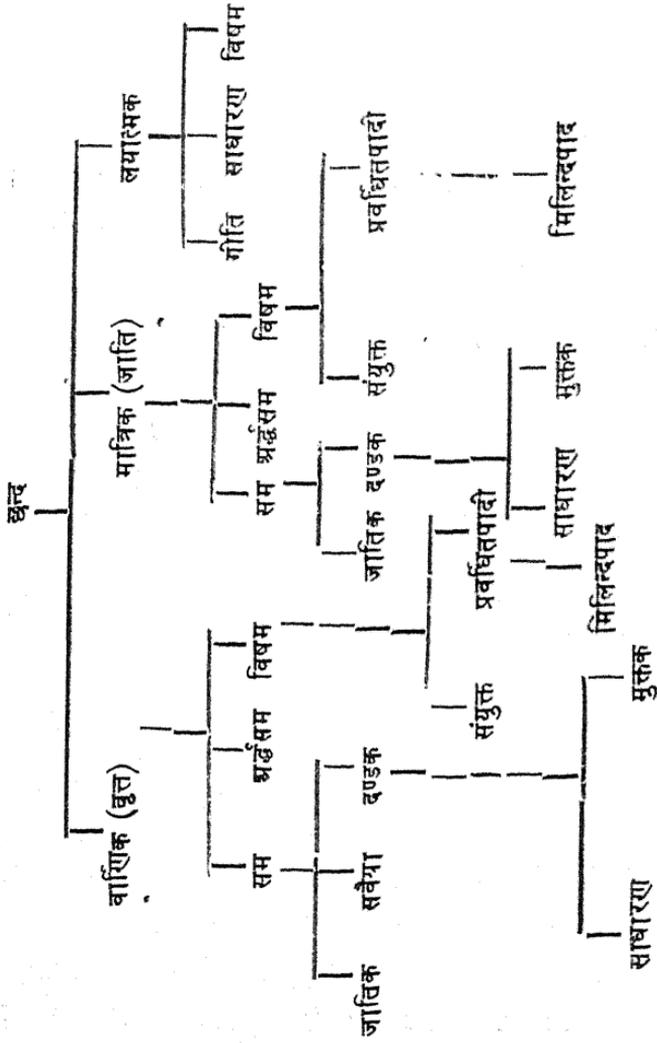
दोहा—(१) [यमाता राज भान सलगां]

इस सूत्र में प्रथम आठ वर्ण आठ गणों के नाम गुण-सहित परिचय देते हैं तथा अन्तिम दो अक्षर लघु और गुरु के नाम द्योतक हैं। जैसे—यगण का रूप यदि जानना है तो सूत्र में 'य' के साथ आगे के दो वर्ण 'मा' और 'ता' जोड़ दो, तो बन गया 'यमाता' (। ऽ ऽ) यगण का चिह्न मालूम हो गया, १ लघु २ गुरु, अर्थात् । ऽ ऽ ; इसी प्रकार से इस सूत्र से प्रत्येक गण का नाम और चिह्न मालूम किया जा सकता है।

(२) आदि मध्य अवसान में, भ ज स सदा गुरु मान।
क्रम से होते य र त लघु, म न गुरु लघु जिय जान॥

यदि हमें गणों की पहचान है तथा किस वार्णिक छन्द में कौन-कौन गण हैं, स्मरण है तो छन्द की पहचान हम कर सकते हैं। जैसे—

दिवस का अवसान समीप था,
। । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ
गगन था कुछ लोहित हो चला।
। । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ

इस कविता में नगण, भगण, भगण और रगण हैं और ये ४ गण समूह द्रुति बिलम्बित छन्द में होते हैं, अतः हम यह पहचान सकते हैं कि यह द्रुति बिलम्बित छन्द है।

समस्त गणों की सारिणी (Chart) मय नाम, रूप, संकेत, देवता, फल, अवतार, शुभ-अशुभ के उदाहरण अगले पृष्ठ पर दिये हैं।

(२) मुक्तक—इस प्रकार के छन्द में केवल वर्णों की गणना की जाती है, मात्राओं और गणों पर कोई विचार नहीं होता। अग्निपुराण में मुक्तक पद की परिभाषा यों दी गई है—

"मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कार क्षमः सताम्" अर्थात् जो श्लोक स्वतः अपने चमत्कार-प्रदर्शन की क्षमता रखता हो, वही मुक्तक है।

वार्णिक-गण-सारिणी

संख्या	नाम	संकेत	रूप	देवता	फल	अवतार	शुभ-अशुभ	उदाहरण	लक्षण
१	यगण	य	ISS	जल	वृद्धि	कच्छप	शुभ	भरोसा	प्रथम लघु, द्वितीय और तृतीय गुरु
२	मगण	म	SSS	पृथ्वी	लक्ष्मी	मत्स्य	शुभ	मायावी	तीनों गुरु
३	तगण	त	SSI	आकाश	शून्य	वामन	अशुभ	तातार	प्रथम और द्वितीय गुरु एवं तृतीय लघु
४	रगण	र	SIS	अग्नि	दाह	वाराह	अशुभ	राधिका	प्रथम गुरु, द्वितीय लघु, तृतीय गुरु
५	जगण	ज	ISI	सूर्य	भय	परशुराम	अशुभ	नदीश	प्रथम लघु, द्वितीय गुरु, तृतीय लघु
६	भगण	भ	SII	चन्द्रमा	यश	रामचन्द्र	शुभ	भारत	प्रथम गुरु, द्वितीय और तृतीय लघु
७	नगण	न	III	स्वर्ग	सुख	कृष्ण	शुभ	भवन	तीनों लघु
८	सगण	स	IIS	वायु	विदेश-गमन	नृसिंह	अशुभ	भगिनी	प्रथम एवं द्वितीय लघु तथा तृतीय गुरु

छन्दों में शुभ और अशुभ अक्षर

छन्द में शुभ और अशुभ अक्षर पर भी बहुत ध्यान दिया जाता है। व्यंजन में १५ शुभ और १६ अशुभ अक्षर माने गये हैं, जो निम्न हैं :—

शुभ अक्षर—क, ख, ग, घ, च, छ, ज, ड, द, ध, न, य, श, स एवं क्ष।

अशुभ अक्षर—ङ, झ, ञ, ट, ठ, ढ, ण, त, थ, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, ष तथा ह।

इनके अतिरिक्त झ, ह, र, भ और ष, ये ५ अक्षर अधिक दूषित होने के कारण दग्धाक्षर कहलाते हैं। छन्द के प्रारम्भ में अशुभ अक्षर रहने से छन्द दूषित समझा जाता है। लेकिन अशुभ और दग्धाक्षरों को दीर्घ कर देने से दोष मिट जाता है।

(अ) वार्णिक छन्द

१—उपेन्द्रवज्रा

लक्षण—[ज, त, ज, ग, ग] जतो जगै गाय उपेन्द्रवज्रा, इस छन्द में कुल ११ वर्ण होते हैं एवं ५ तथा ६ अक्षरों पर यति होता है। प्रत्येक चरण में जगण ,तगण, जगण और दो गुरु इस क्रम से होते हैं। ज त ज ग ग
ISI SSI ISI S S

उदाहरण—

(१) अनेक ब्रह्मादि न अन्त पायो।
अनेक धा वेदन गीत गायो॥
तिन्हें न रामानुज बंधु जानौ।
सुनौ सुधी केवल ब्रह्म मानौ॥

(२) त्वमेव माता च पिता त्वमेव।
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव॥
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव।
त्वमेव सर्वम् मम देव देव॥

२ इन्द्रवज्रा

लक्षण—[त, त, ज, ग, ग] ता ता जगो गावहु इन्द्रवज्रा । प्रत्येक चरण में कुल ११ वर्ण होवे हैं ।

त त ज ग ग

SSI SSI ISI S S

उदाहरण—

(१) यत्रैव गंगा यमुना त्रिवेणी ।
गोदावरी सिन्धु सरस्वती चः ।।
सर्वाणि तीर्थानि वसंति तत्र ।
यत्राच्युतोदार कथा प्रसंगः ।।

(२) संसार है एक अरण्य भारी ।
हुए जहाँ हैं हम मार्ग चारी ।।
जो कर्म रूपी न कुठार होगा ।
तो कौन निष्कंटक पार होगा ।।

३—उपजाति

लक्षण—यह इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा दोनों से मिलाकर छन्द बनता है । जब एक ही छन्द में कुछ चरण उपेन्द्रवज्रा के तथा शेष चरण इन्द्रवज्रा के हों, तो उपजाति छन्द बनता है ।

उदाहरण—

(१) परोपकारी बन बीर आओ । (१)
नीचे पड़े भारत को उठाओ ।। (२)
हे मित्र त्यागो मद मोह माया । (३)
नहीं रहेगी यह नित्य काया ।। (४)

पहली और चौथी पंक्ति में उपेन्द्रवज्रा और तीसरी तथा दूसरी पंक्ति में इन्द्रवज्रा छन्द है ।

(२) पुराण गावै नितही अठारे। —उपेन्द्रवज्रा
श्रुती सबै ही हँस के उचारे। —इन्द्रवज्रा
एकै जगज्ज्योति भले प्रकारे। —इन्द्रवज्रा
सुकीर्ति गाते सब देव हारे। —उपेन्द्रवज्रा

४—द्रुति बिलम्बित

लक्षण—[न, भ, भ, र] द्रुति बिलम्बित हो न भ भार से। प्रत्येक चरण में १२ अक्षर रहते हैं। नगण, भगण, भगण, रगण का क्रम—

न भ भ र
।।। ऽ।। ऽ।। ऽ।ऽ

उदाहरण—

(१) कमल लोचन क्या कल आ गये।
पलट क्या कुकपाल क्रिया गयी॥
किसलिए बज कानन में उठी।
मुरलिका नलिका उर बालिका॥

(२) दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी कुल बल्लभ की प्रभा॥

५—वंशस्थ

लक्षण—[ज, त, ज, र] सुजान वंशस्थ विलं ज ता जरा। प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और रगण मिलाकर १२ वर्ण होवे हैं—

ज त ज र
।ऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽ।ऽ

उदाहरण—

महाबली जूझत ही प्रहस्त को।
चढ्यो तही रावण मीडि हस्त को॥
अनेक भेरी बहु दुन्दुभि बजैं।
गयन्द क्रोधान्ध जहाँ-तहाँ गजैं॥

६—भुजंग प्रयात

लक्षण—[य, य, य, य] भुजंग प्रयात भुजंग प्रयात। प्रत्येक चरण में ४ यगण होते हैं।

य	य	य	य
।SS	।SS	।SS	।SS

उदाहरण—

(१) नमामीशमीशान निर्वाण रूपं।
विभुं व्यापकं ब्रह्म वेद स्वरूपं॥
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं।
चिदाकाशमाकाशवासं भजेहं॥

(२) अरी व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई।
हटा थाल तू क्यों इसे साथ लाई॥
वही पार है जो बिना भूख भावै।
बता किन्तु तू ही उसे कौन खावै॥

७—मालिनी

लक्षण—[न, न, म, य, य] ८ और ७ पर यति।

न	न	म	य	य
।।।	।।।	SSS	।SS	।SS

उदाहरण—

(१) जब विरह विधाता ने सृजा विश्व में था।
तब स्मृति रचने में कौन सी चातुरी थी ?
यदि स्मृति विरचा ही तो उसे क्यों बनाया ?
उर छिति बहु पड़ा बीज निःक्षेपकारी ॥

(२) अतुलित बलधामं स्वर्ण शैलाभ देहं।
दनुज वन कृशानु ज्ञानिनामग्रगण्यं ॥
सकल गुण निधानं वानराणामधीशं।
रघुपति वरदूतं वात जातं नमामि ॥

८—बसन्ततिलका

लक्षण—[त, भ, ज, ज, ग, ग] जानो बसन्ततिलका तु भजौ जगौ गा। इसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु होवे हैं। कुल मिलाकर १४ वर्ण होते हैं।

क्रम से	त	भ	ज	ज	ग	ग
	ऽऽ।	ऽ।।	।ऽ।	।ऽ।	ऽ	ऽ

उदाहरण—

(१) नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्।
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ॥
स्वान्तस्सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।
भाषा निबन्ध मति मंजुल मातनोति ॥

(२) हूँ मैं नितान्त रुचि से तुझको उठाती।
प्यारे पदांक अब तू मम अंक में आ।
हा दैव क्या यह हुआ ? उह क्या करूँ मैं ?
कैसे हुआ प्रिय पदांक विलोप भू में ?

यह छन्द कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त है क्योंकि इसमें रोचकता, लालित्य, सौन्दर्य और सुख है।

९—मन्दाक्रान्ता

लक्षण—[म, भ, न, त, त, ग, ग] ४, ६ और ७ पर यति मन्दाक्रान्ता, कर सुमति को 'मा भनो ता त गा गा'। प्रत्येक चरण में मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और दो गुरु मिलाकर १७ वर्ण होते हैं।

म	भ	न	त	त	ग	ग
SSS	SII	III	SSI	SSI	S	S

उदाहरण—

(१) कुंजों-कुंजों प्रतिदिन जिन्हें, चाव से था चराया।
जो प्यारी थी परम ब्रज के लाड़िले को सदा ही॥
खिन्ना दीना विकल बन में आज जो घूमती हैं।
ऊधो कैसे हृदय धन को हाय! वे धेनु भूलीं॥

(२) दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोक लीला।
सौ पुत्रों से अधिक जिनसी पुत्रियाँ पुण्यशीला॥
त्यागी भी है, शरण जिनके जो अनासक्त गेही।
राजा योगी, जय जनक वे, पुण्य देही विदेही॥

१०—शिखरिणी

लक्षण—[य, म, न, स, भ, ल, ग] यमी ना सो भू ला गुण गणनि ग गा शिखरणी, प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, अन्त में लघु और गुरु मिलाकर १७ वर्ण होते हैं। ६ और ११।

य	म	न	स	भ	ल	ग
ISS	SSS	III	IIS	SII	I	S

उदाहरण—

(१) अनूठी आभा से सरस सुषमा से सुरस से।
बना जो देती थी वह गुणमयी भू विपिन को।

निराले फूलों की विविध वाली अनुपमा।
जड़ी बूटी नाना बहु फलवती थी विलसती।
(२) मनोभावों के हैं शतदल जहां शोभित सदा,
कला हँस श्रेणी, सरस रस क्रीड़ा निरत है।

११—शार्दूल विक्रिड़ित

लक्षण—[म, स, ज, स, त, त, ग] "मैं साजौं सत तै गुरु सुमिरिक शार्दूल विक्रीड़िवै।" प्रत्येक चरण में मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, और गुरु मिलाकर १६ वर्ण होते हैं, १२ और ७ पर यति।

म	स	ज	स	त	त	ग
SSS	IIS	ISI	IIS	SSI	SSI	S

उदाहरण—

(१) ज्यों-ज्यों थी रजनी व्यतीत करती, औ देखती व्योम को।
त्यों-त्यों उनका प्रगाढ़ दुःख भी, दुर्दान्त था रो रहा॥
(२) सायंकाल हवा समुद्र तट की आरोग्यकारी यहां।
प्रायः शिक्षित सभ्य लोग नित ही जाते इसी से वहाँ॥
बैठे हास्य विनोद मोद करते, सानन्द वे दो घड़ी।
सो सोभा उस दृश्य की हृदय को, है तृप्ति देती बड़ी॥

१२—सवैया

जिन वर्णों के छन्दों में २२ से २६ तक वर्ण होवे हैं उन्हें सवैया कहते हैं। आचार्य भिखारीदास के छन्दार्णव पिंगल में निम्न छन्द लिखा है जिसमें कई सवैयों के लक्षण एक साथ दिये हैं।

सात भ है मदिरा गुरु अन्तहु दै लघु और चकोर कहो गुनि।
ताहु गुरु करि मत्तगयन्द, ल हू मदिरा शिर मानिनी ये सुनि॥
आठ करो य भुजंग, र लक्षिय सो दुमिला त हि अभार है पुनि।
जा हि सु मोतियदाम बनावहु, भागन आठ किरीट रचो पुनि॥

अर्थात् सात भगण और अन्त में गुरु होने से मदिरा, उसके साथ एक और लघु देने से चकोर, उस लघु को गुरु अर्थात् २ गुरु कर देने से मत्तगयन्द, मदिरा के प्रारम्भ में एक लघु रख देने से मानिनी या सुमुखी, आठ यगण से भुजंग, आठ रगण से लक्षी, आठ सगण से दुर्मिल, आठ तगण से अभार, आठ जगण से मोतियदाम, आठ भगण से किरीट सवैया की रचना करो।

इस प्रकार इसमें १० प्रकार के छन्दों का उल्लेख है जिसमें से तीन, भुजंग, लक्षी और आभार अधिक प्रचलित नहीं हैं। इन्हें छोड़ कर शेष सवैया आगे वर्णित है।

(क) मदिरा सवैया—इसमें ७ भगण और अन्त में गुरु मिलाकर २२ वर्ण होते हैं। भगण ग
SII S

उदाहरण—

(१) रावण की उतरी मदिरा चुपचाप पयान जु लंक कियो।
राम बरी सिय मोदभरी नभ में सूर जै जयकार कियो॥

(२) राम को काम कहा रिपु जीतहिं कौन कबै रिपु जीत्यो कहाँ।
बालि बली छल सों भृगु नन्दन गर्व हरो द्विज दीन महा॥

—केशवदास

(ख) लवंगलता सवैया—इसमें ८ जगण और अन्त में लघु मिलाकर २५ वर्ण होते हैं। जगण लघु
ISI I

उदाहरण—

भजौ रघुनन्दन पाप निकन्दन श्री जगबन्दन नित्य हियाधर।
तजौ कुमती धरिये सुमती शुभ रामहिं राम रटौ निसिबासर॥

(ग) मत्तगयन्द सवैया—इसमें ७ भगण और अन्त में दो गुरु मिलाकर २३ वर्ण होते हैं। भूषण ने इस सवैया का नाम मालती लिखा है।

भगण ग ग
ऽ।। ऽ ऽ

उदाहरण—

(१) हो रहते तुम नाथ जहाँ रहता मन साथ सदैव वहीं है।
मंगल मूर्ति बसी उर में वह नेक कभी टलती न कहीं है।
—गोपाल शरण सिंह

(२) था करना न निबाह तुम्हें तब क्यों तुमने चित चाह बढ़ाई।
हो रहते दिल में फिर क्यों अपने घर में यह आग लगाई॥
—गोपाल शरण सिंह

(३) किन्तु अचानक ही उसके वर लोचन में जल का भर आना।
संभव है न कभी मुझको इस जीवन में वह दृश्य भुलाना॥

(घ) अरविंद सवैया—इसमें ८ सगण और अन्त में लघु मिलाकर २५ वर्ण होते हैं। सगण ल
।।ऽ ।

उदाहरण—

सब सों लघु आपुहिं जानिय जू तह धर्म सनातन जान सुजान।
जब ही सुमती अरु आनि बसै उर सम्पति सर्व बिराजत आन॥

(ङ) सुमुखी सवैया—इसमें ७ जगण और अन्त में लघु और गुरु मिलाकर २३ वर्ण होते हैं। जगण लघु गुरु
।ऽ। । ऽ

उदाहरण—

(१) कुमार के रंग निवास की है अलबेली नवेली तहां रमनी।
लखै छवि सोवत में मुख की प्रति एक की ऐसी लुगाई सुनी॥
—रामचन्द्र शुक्ल

(२) कलिंदिनि तीर खड़े बलवीर, सुबालन की गहि बांह सबौ।
सदा हमरे हिय मन्दिर में यहि बानक सों करिये बसिबौ॥

(च) किरीट सवैया—इसमें ८ भगण मिलाकर २४ वर्ण होते हैं।

भगण

ऽ । ।

उदाहरण—

(१) पापी अजामिल पार कियो जेहि नाम लियो सुत ही को नारायण।
त्यों पद्माकर लात लगें पर विप्रहु के पग चौगुने चायन॥
—पद्माकर

(२) मानुष हौं तौ वही रसखानि बसौ ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तौ कहा बसु मेरो चरौ नित नन्द कि धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि कौ जु धर्‌यो करि छत्र पुरंदन धारन।
जो खग हौं तौ बसेरौ करौ मिलि कालिंदि कूल कदंब के डारन॥

(छ) दुर्मिल सवैया—इसमें ८ सगण कुल मिलाकर २४ वर्ण होते हैं।
इसे चन्द्रकला भी कहते हैं।

सगण

। । ऽ

उदाहरण—

(१) जकड़े हमको तुम खूब रहो, परवाह न हमें इस बन्धन की।
कुछ सोच नहीं हमको इसका, नित है बढ़ती तनुता तन की॥
—गोपाल शरण सिंह

(२) ध्रुव धर्म धरै पर दुःख हरै तन त्याग तरै भवसागर को।
दिन फेर पिता वर दे सविता कर दे कविता कवि 'शंकर' को॥

(३) कवि कोविद वृन्द बखान रहे सबका अनुभूत यही मत. है।
उपमान विहीन रचा विधि ने बस भारत के हम भारत हैं ॥
—नाथूराम शर्मा

(ज) सुन्दरी सवैया—इसमें ८ सगण तथा अन्त में गुरु मिलाकर २५ वर्ण होते हैं। इसे मल्ली भी कहते हैं। सगण गुरु
। । S S

उदाहरण—

(१) सुख शान्ति रहे सब ओर सदा अविवेक तथा अघ पास न आवे।
गुण शील तथा बल बुद्धि बढ़े हठ बैर विरोध घटे मिट जावे ॥

(२) सबसो गहि पाणि मिले रघुनन्दन भेंटि कियो सबको सुख भागी।
जब ही प्रभु पाँव धरे नगरी महँ तो छिन तें विपदा सब भागी ॥

(झ) चकोर सवैया—इसमें ७ भगण और अन्त में गुरु और लघु मिला कर २३ वर्ण होते हैं। भगण गुरु लघु
S S । S ।

उदाहरण—

(१) सावन आय समीप लगो तब नारि के प्रान बचावन काज।
बादर दूत बनावन को कुशलात संदेस पठावन काज ॥
—लक्ष्मण सिंह

(२) भासत ग्वाल सखी गन में हरि राजत तारन में जिमि चन्द।
नित्य नयो रचि रास मुदा ब्रज में हरि खेलत आनन्द कन्द ॥

(ञ) वागीश्वरी सवैया—इसमें ७ यगण अन्त में लघु और गुरु मिल कर २३ वर्ण होते हैं। यगण लघु गुरु
। S S । S

उदाहरण—

सदा सत्य बोलौ हिये गाँठ खोलौ यही योग्य है मानवी गात को।
करौ भक्ति साँची महा प्रेम राँची बिसारौ न त्रैलोक्य के तात को ॥

(ट) मुक्तहरा—आठ जगण अर्थात् २४ वर्णों का यह सवैया होता है।

जगण

। । ऽ

उदाहरण—

(१) भले दृग स्यामल औ रतनार सुहावत जद्यपि तेज जनाय।
तरु इनमें बिलसै वुही चारु प्रिया के कटाच्छन की समताय॥
—सत्यनारायण 'कविरत्न'

(२) प्रसन्न सदा शिव हों तुरतै जन पै सब भाषत वेद पुरान।
करै नित भक्तन को भवमुक्त हरैं जन के सब क्लेश महान॥

(ठ) अरसात सवैया—सात भगण और अन्त में एक रगण मिलाकर २४ वर्ण होते हैं।

भगण रगण

ऽ । । ऽ । ऽ

उदाहरण—

(१) जान सका वह क्यों न मुझे कहते सब हैं वह है सब जानता।
है नित ही रहता उर में फिर क्यों न मुझे वह है पहचानता॥
—गोपालशरण सिंह

(२) 'आलम' जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यों करैं।
नैननि में जे सदा रहते, तिनकी अब कान कहाँ की सुन्यों करैं॥
—आलम

(ड) वाम सवैया—सात जगण और एक यगण अर्थात् २४ वर्णों का यह सवैया होता है। इसके अन्य नाम 'मंजरी', 'मकरन्द' और 'माधवी' भी है।

ज ग ण य ग ण

। ऽ । । ऽ ऽ

उदाहरण—

(१) अकेला ही है मुनि को यह बाल तऊ भयभीत न रंच लखावै।
मनौ कुलहा रघुवंश को चारु दुरयो जिम नेह लता उलहावै॥
—सत्य नारामण कविरत्न

(२) चढ़ै गज बाजि सु पीनस आदि जु बाहन राजत केर बखाने।
लहै भलि वाम अरु धन धाम तु काह भयो बिनु रामहिं जाने॥

(ढ) कुन्दलता सवैया—इसके प्रत्येक चरण में १२ और १४ के विराम से ८ सगण और दो लघु के क्रम से २६ वर्ण होते हैं। इसके अन्य नाम 'सुख' 'सुखद' और 'किशोर' भी है। सगण लघु लघु
। । ऽ । ।

उदाहरण—

(१) जग में नर जन्म दियो प्रभु ने मृदु भाषत सुराखत लाजहू।
सत कर्म करै सत वृत्त बनै, समरत्थ रहै नित ही पर काजहू॥

(२) निज बालक बेस ही में गिरि के सम गौरवता की छटा छिटकावत।
तप धारी किधौं यह दर्प लसै अथवा वर वीरता को मद आवत॥

१३—घनाक्षरी, कवित्त अथवा मनहरण

लक्षण—इस छन्द के प्रत्येक चरण में ३१ अक्षर होते हैं। १६ और १५ पर यति होता है तथा अन्त में गुरु होता है। इसे कवित्त और मनहरण छन्द भी कहते हैं।

उदाहरण—

सच्चे हो पुजारी तुम प्यारे प्रेम मन्दिर के,
उचित नहीं है तुम्हें दुःख से कराहना।
करना पड़े जो आतमत्याग अनुरागवश,
तो तुम सहर्ष निज भाग्य को सराहना॥

प्रीति का लगाना कुछ कठिन नहीं है सखे,
किन्तु कठिन है नित नेह का निबाहना।
चाहना जिसे है तुम्हें चाहिए सदैव उसे,
तन-मन प्राण से प्रमोद युत चाहना ॥

१४—रूपघनाक्षरी

लक्षण—इसमें ३२ अक्षर होते हैं। १६, १६ पर यति होता है। अन्त में गुरु लघु।

उदाहरण—

(१) जान गया जान गया कौन हो सुजान तुम,
तुम्हें पहचान गया मत बतलाओ तुम।
खोल दो नयन मत मुझे तरसाओ और,
सुख सरसाओ, प्रेम सुधा बरसाओ तुम।
छिप कर जाने अब पाओगे कदापि नहीं,
जाओ या न जाओ फिर आओ या न आओ तुम।

(२) नगर से दूर कुछ गाँव की सी बस्ती एक,
हरे-भरे खेतों के समीप अति अभिराम।
जहाँ पत्र जाल अन्तराल से झलकते हैं,
लाल खपरैल श्वेत छज्जों के सँवारे धाम ॥

—रामचन्द्र शुक्ल

१५—कृपाणघनाक्षरी

लक्षण—प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं, प्रत्येक आठवें वर्ण पर यति होती है। कभी अन्त के तीन वर्ण लघु गुरु लघु होते है और कभी अन्त के तीन वर्ण गुरु गुरु और लघु होते हैं।

उदाहरण—

(१) दस बार बीस बार, बरजि दई है जाहि,
एते पै न माने जौ तै, जरन बरन देव ।
कैसे कहा कीजै कछू, आपनो करो न होय,
जाके जैसे दिन ताहि, तैसेई भरन देव ।।
—ठाकुर

(२) देखकर तेरी मंजु, मन्द-मन्द मुस्कान,
चारु चपला का जहाँ, आता मन में है ध्यान ।
यह वरदान दे कि बैठ के वहीं सदैव,
सुख से करूँ मैं तेरी, सुषमा सुधा का पान ।।
—गोपालशरण सिंह

प्रायः इस छन्द में वीर रस की अभिव्यक्ति की जाती है । यदि इसके प्रत्येक चरण में नकार का प्रयोग किया जाय, तो अतीव लालित्य से पूर्ण और कर्ण-मधुर हो जाता है । जैसे—

देखि कालिका को जंग, सब होय जात दंग,
मति कबिहू की पंग, नहीं सकत बखान ।
कहूँ देखो न जहान, नहिं परो कछू कान,
ऐसो युद्ध भो महान, महा प्रलय लखान ।।
यातुधान कुलहान, देखि देव हरखान,
मन मुदित महान, हने तबल निसान ।
जब झमकि झमकि पग ठमकि ठमकि,
चहुँ लमकि लमकि, काली झारी किरपान ।।

१६—देवघनाक्षरी

लक्षण—प्रत्येक चरण में ८, ८, ८, ९ के विराम से ३३ वर्ण होते हैं । क्रमशः तीन वर्ण लघु होते हैं ।

उदाहरण—

(१) झिल्ली झनकारै पिक, चातक पुकारै बन,
मोरनि गुहारै उठे, जुगनू चमकि चमकि।
घोर घन कारे भारे, धुरवा धुरारे धाम,
धूमनि मचावै नाचै, दामिनी दमक दमक॥
—जसवन्त सिंह

(२) कै तो निज गेह कै नरेस गेह पावै छवि,
अनत न जावै ठौर, दो ही ये घरन घरन।
मच्छर तौ नाहिं तौ जगन्तर में फेरी देयँ,
स्वान तौ नहीं हैं, फिरैं घूमत घरन घरन॥

१७—आर्या

लक्षण—जिसके पहले और तीसरे चरण में १२ और दूसरे में १८ तथा चौथे में १५ मात्राएँ हों।

उदाहरण—

रामा रामा रामा—१२ मात्रा
आठौ यामा जपौ यही नामा। १८ मात्रा
त्यागौ सारे कामा,—१२ मात्रा
पै हो बैकुण्ठ विश्रामा—१५ मात्रा

१८—अनुष्टुप

लक्षण—इसके प्रत्येक चरण में ८ अक्षर होते हैं। प्रत्येक चरण का पाँचवाँ अक्षर लघु, छठा दीर्घ और आठवाँ दीर्घ या गुरु हो। सातवाँ अक्षर पहले और तीसरे चरण में गुरु और दूसरे तथा चौथे चरण में लघु होता है। भिखारीदास ने इसकी गणना मुक्तक छन्दों में की है। फारसी में इस छन्द को मुस्तस्ना और अंग्रेजी में Exception कहते हैं।

उदाहरण—

राम रामेति रामेति,
रमे रामे मनोरमे।
सहस्र नाम तुल्यं,
राम नामे वरानने॥

१९—प्रहर्षिणी

लक्षण—[म, न, ज, र, ग] ३ और १० पर यति। १३ वर्ण।

मगण,	नगण,	जगण,	रगण	गुरु
SSS	।।।	।S।	S।S	S

उदाहरण—

मानो जू, रंग रहि प्रेम में तुम्हारे,
प्राणों के तुमहि अधार हौ हमारे।

२०—हरिणी

लक्षण—[ज, ज, ज, ल, ग] कुल ११ अक्षर एक चरण में होते हैं।

जगण	जगण	जगण	लघु	गुरु
।S।	।S।	।S।	।	S

उदाहरण—

जु राम लगा मन नित्य भजै।
निकाम रहैं सब काम तजै॥
बसै तिनके हिय में सुखदा।
मनोहरिणी छबि राम सदा॥

२१—स्रग्धरा

लक्षण—[म, र, भ, न, य, य, य] ७, ७, ७ पर यति, एवं २१ वर्ण होते हैं।

मगण रगण भगण नगण यगण यगण यगण
SSS SIS SII III ISS ISS ISS

उदाहरण—

(१) नाना फूलों फलों से, अनुपम जग की, वाटिका है विचित्रा ;
भोक्ता हैं सैकड़ों ही, मधुप शुक तथा कोकिला गान शीला।
कौवे भी हैं अनेकों, परधन हरने में सदा अग्रगामी ;
कोई है एक माली, सुधि इन सबकी, जो सदा ले रहा है ॥

(२) होवे सारी प्रजा को, सुख बलयुत तो, धर्म धारी नरेशा।
होवे वर्षा समै पै, तिलभर न रहै, व्याधियों का अंदेशा ॥

२२—मौक्तिकदाम या मोतियादाम

लक्षण—प्रत्येक चरण में चार जगण के क्रम से १२ वर्णों का यह छन्द होता है।

ज ग ण
I S I

उदाहरण—

(१) बड़े जन को नहिं मांगन जोग।
फबैं छल साधन में लघु लोग ॥—देवीप्रसाद 'पूर्ण'

(२) गये तहँ राम जहाँ निज मात।
कही यह बात कि हैं बन जात ॥
कछू जनि जी दुःख पावहु माइ।
सो देहु अशीष मिलौं फिरि आइ ॥ —केशव

(३) जँचों रघुनाथ धरें धनु हाथ।
विराजत सानुज जानकि साथ ॥

२३—चामर

लक्षण—प्रत्येक चरण में रगण, जगण, रगण, जगण और रगण के क्रम से १५ वर्ण होते हैं और आठवें अक्षर पर यति होती है।

रगण	जगण	रगण	जगण	रगण
S I S	I S I	S I S	I S I	S I S

उदाहरण—

(१) ताहि पूछि औ बताय, लोग भूल ही करैं।
सो प्रसंग लाय व्यर्थ, बाद माहिं ते परैं॥

—बुद्धिचरित

(२) आइयो कुरंग एक, चारु हेम हीर को।
जानकी समेत चित्त, मोहि राम वीर को। —केशव

२४—गीतिका

लक्षण—यह २० अक्षर का कृति जाति का छन्द है। इसका अन्य नाम मुनिशेखर भी है। इसके प्रत्येक चरण में अक्षर निम्न क्रम से रखे जाते हैं एवं १२, ८ पर यति होती है।

सगण	जगण	जगण	भगण	रगण	सगण	लघु	गुरु
IIS	ISI	ISI	SII	SIS	IIS	I	S

उदाहरण—

(१) कोउ आज राज समाज में बल, शम्भु को धनु कर्षि है?
पुनि श्रौण के परिमाण तानि सो, चित्त में अति हर्षि है॥

—केशव

(२) पद! मो शरीरहि राम के कल, धाम को लय धावहू।
कर! बीन लै अति दीन ह्वै नित, गीत कान सुनावहू॥

(३) दशकंठ रे शठ छाँड़ि दे हठ, बार बार न बोलिये।
अब आजु राज समाज में बल, साजु चित्त न डोलिये॥

—केशव

२५—दोधक

लक्षण—प्रत्येक चरण में ३ भगण और २ गुरु के क्रम से ११ अक्षरों

का यह छन्द बनता है। वाणी भूषणकार ने इसे 'बन्धु' के नाम से भी पुकारा है।

भगण भगण भगण ग ग

ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ ऽ

उदाहरण—

(१) पांडव की प्रतिमा सम लेखौ।
अर्जुन भीम महामति देखौ।—केशव

(२) भागु न गे दुहि दे नंदलाला।
पाणि गहे कहती ब्रजबाला।

(ब) मात्रिक छन्द (सम)

२६—चौपाई

लक्षण—प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं और अन्त में जगण एवं तगण न हो।

"सोरह क्रमन जतन चौपाई, सुनहु तासु गति अब मन लाई।"

उदाहरण—

(१) हाथ लिये बल्कल सुकुमारी। ठाढ़ी भयी लाज उर भारी॥
पहर न जानत मन अकुलानी। राम ओट लखि कह मृदुबानी॥

(२) जब तें राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बढ़ाये॥
भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥

२७—राधिका

लक्षण—"तेरह नौ पर पड़े तो राधिका है।" कुल २२ मात्राएँ होती हैं। १३ और ९ पर यति होती है।

उदाहरण—

(१) सब सुधि बुधि गइ क्यों भूल, गई मति मारी।
माया को चेरे भयो, भूलि असुरारी॥

(२) बैठी है बसन मलीन, पहन इक बाला।
पुरइन पत्रों के बीच, कमल की माला॥
(३) उस मलिन बसन में अंग, प्रभा दमकीली।
ज्यों धूसर नभ में चन्द्र, कला चमकीली॥

—जयशंकर प्रसाद

२८—रोला

लक्षण—"ग्यारह तेरह यती, कुल चौबीस कहु रोला।" २४ मात्राएँ होती हैं तथा ११ और १३ पर यति होती है। अन्त में दो गुरु अथवा दो लघु पड़ते हैं।

उदाहरण—

(१) मोहन मदन गुपाल, राम प्रभु शोक निवारन।
सोहत परम कृपाल, दीन जन पाप उधारन॥
(२) शान्त नदी का स्रोत, बिछा था अति सुखकारी।
कमल कली का नृत्य, हो रहा था मनहारी॥
बोल उठा जो हंस, देखकर कमल कली को।
तुरत रोकना पड़ा, गूँज कर चतुर अली को॥
हिली आम की डाल, चला ज्यों नवल हिंडोला।
आह कौन है पंचम, स्वर में कोकिल बोला॥

२९—सरसी या कबीर

लक्षण—"सोलह-ग्यारह अन्त गाल रचि सरसी छन्द सुजान।" प्रत्येक चरण में २७ मात्राएँ, १६ और ११ पर यति तथा अन्त में गुरु-लघु हो।

उदाहरण—

(१) काम क्रोध मद लोभ मोह की, पचरंगी कर दूर।
एक रंग तन मन वाणी में, भर ले तू भरपूर॥
प्रेम पसार न भूल भलाई, वैर विरोध बिसार।
भक्तिभाव से भज शंकर को, भक्ति दया उर धार॥

(२) सत्य तेज है, प्रेम रूप है, धर्म रंग रमणीय।
संयम शक्ति शांति छवि अनुपम, यश प्रकाश कमनीय ॥

पंजाब में जैसे कोरड़ा छन्द प्रसिद्ध है उसी प्रकार उत्तर प्रदेश में होली के दिनों में कबीर की शुद्ध वाणी के पलटे जो कबीर गाये जाते हैं वे इसी ढंग के होते हैं। जैसे—

आपस में ना करै मुकद्दमा, घूस हजारों देय।
डिगरी पावै खरचा जोड़ै, लम्बी साँसें लेय ॥
बहू बेटियाँ मात पिता की, कही न मानै बात।
पढ़े गुने बिन यही फजीहत, दाऊजी अकुलात ॥

इसे कबीर या समुन्दर छन्द भी कहते हैं।

३०—हरिगीतिका

लक्षण—२८ मात्राएँ होती हैं, १६ और १२ पर यति तथा अन्त में लघु-गुरु होना चाहिए।

षोडश-द्वादश अन्त लगकरि, गाइये हरिगीतिका

उदाहरण—

(१) हो द्रवित करके श्रवण उसकी प्रार्थना करुणा भरी।
देने लगे निज कर उठा के सान्त्वना उसको हरी ॥
भद्रे रुदन कर बन्द हा हा, शोक को मन से हटा।
यह देख तेरी दुःख घटा जाता, हृदय मेरा फटा ॥ —गुप्त जी

(१) संसार भवनिधि तरण को नहिं, और अवसर पाइये।
शुभ पाय मानुष जन्म दुर्लभ, राम सीता गाइये ॥

(३) मुख नागरिन के राज ही कहुँ फटिक महलन संग में।
विकसत कोमल कमल मानहु अमल गंग तरंग में ॥—भूषण

तुलसी, सूर, केशव, भूषण और मैथिलीशरण गुप्त का यह बहुत प्रिय छन्द रहा है।

३१—चौपइया अथवा चवपेया

लक्षण—प्रत्येक चरण में ३० मात्राएँ होती हैं। १०-८-१२ पर यति, अंत में दो या एक गुरु होना चाहिए। इसे 'चतुष्पदी' भी कहते हैं।

उदाहरण—

(१) माता पुनि बोली, सो मति डोली, तजहु तात यह रूपा।
कीजै शिशु लीला अति प्रियशीला यह सुख परम अनूपा॥
सुनि वचन सुजाना, रोदन ठाना, हुइ बालक सुरभूपा।
यह चरित जे गावहिं, हरिपद पावहिं, ते न परहिं भवकूपा॥

(२) एकै तुम दोऊ और न कोऊ, एकै नाम कहायो।
आयुर्बल खूट्यो धनुष जु टूट्यो, पै तन मन सुख पायो॥

३२—वीर (आल्हा)

लक्षण—३१ मात्राएँ होती हैं। यति ८-८-१५ पर पड़ती है, अन्त में गुरु-लघु पड़ता है। जगनिक ने अपने आल्ह-खंड की रचना इसी छन्द में की है। आधुनिक काल में आनन्द कुमार ने 'अंगराज' काव्य में इसका प्रयोग किया है।

उदाहरण—

(१) मुर्चा लौटो, तब नाहर को, आगे बढ़े पिथौरा राय।
नौ सै हाथिन, के हलका माँ, इकले घिरे कनौजी राय॥
सात लाख से चढ़्यो पिथौरा, नदी बेतवा के मैदान।
आठ कोस लौ, चले सिरोही, नाही सूझत अपुन बिरान॥

—जगनिक

(२) दिया कृष्ण ने दुर्योधन को निज सेना रूपी उपहार।
और निरायुध स्वयं पार्थ का रथ सारथ्य किया स्वीकार॥

—'अंगराज'

इसे मात्रिक सवैया भी कहते हैं।

३३—गीतिका

लक्षण—२६ मात्राएँ होती है, १४ और १२ पर यति। तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्राएँ लघु और अन्त में रगण (ऽ। ऽ) होना चाहिए।

उदाहरण—

(१) मातृ भू सी मातृ भू है, अन्य से तुलना कहीं।
यत्न से भी ढूँढ़ने पर, मिल हमें सकती नहीं॥
(२) पाय के नर जन्म प्यारे, कृष्ण के गुण गाइये।
पाद पंकज हीय में धरि, जन्म को फल पाइये॥
(३) कौन नीलोज्वल युगल ये, दो यहाँ पर खेलते।
है झड़ी मकरन्द की, अरविन्द में ये झेलते॥
क्या समय था ये दिखाई पड़ गये कुछ तो कहो।
सत्य क्या जीवन शरद के ये प्रथम खंजन अहो॥

—प्रसाद

गीतिका छंद वर्णिक वृत्त के अंतर्गत भी होता है।

लक्षण—सगण, जगण, जगण, भगण, रगण, सगण, अन्त में लघु गुरु १२, ८ पर यति।

उदाहरण—

(१) पद मो शरीरहिं राम के कल धाम की लय धावहू।
कर बीन लै अति दीन है नित गीत कान सुनावहू॥
(२) दशकंठ रे शठ छाँड़ि दे हठ, बार बार न बोलिये।
अब आजु राज समाज में बल, सा जु चित्त न डोलिये॥

—केशव

अर्धसम

३४—बरवै

लक्षण—वषम अर्थात् पहले और तीसरे पदों में १२ मात्राएँ और

सम अर्थात् दूसरे और चौथे पदों में ७ मात्राएँ होती हैं। सम पदों के अन्त में जगण (। ऽ ।) या तगण (ऽ ऽ ।) पड़ता है। इसे ध्रुव और कुरंग छन्द भी कहते हैं।

उदाहरण—

(१) कवि समाज को बिरवा, चले लगाइ।
सींचन की सुधि लीजो, मुरझि न जाइ॥

(२) सबसे मिलकर रहमन, बैर बिसार।
दुर्लभ नर तनु पाकर, कर उपकार॥

३५—दोहा

लक्षण—विषम (१—३) पदों में १३ मात्राएँ और सम (२—४) पदों में ११ मात्राएँ होती हैं। विषम पदों के आदि में जगण (। ऽ ।) नहीं होना चाहिए। सम पदों के अन्त में लघु पड़ता है।

उदाहरण—

(१) राम नाम मणि दीप धर, जीह देहरी-द्वार।
तुलसी बाहर भीतरहु, जो चाहत उजियार॥

(२) बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

३६—सोरठा

लक्षण—यह दोहा का उलटा होता है। विषम (१—३) चरणों में ११ मात्राएँ और सम (२–४) चरणों में १३ मात्राएँ होती हैं।

उदाहरण—

(१) रहिमन मोहि न सुहाय, अमी पियावत मान बिन।
बरु विष देय बुलाय, मान सहित मरिबो भलो॥

(२) जेहि सुमिरत सिधि होय, गणनायक करिवर बदन।
करहु अनुग्रह सोय, बुद्धि राशि शुभ गुण सदन॥

३७—उल्लाला (अ)

लक्षण—विषम (१—३) चरणों में १५ और सम (२—४) चरणों में १३ मात्राएँ होती हैं।

उदाहरण—

वह जाति ध्वंस हो जायगी, जो दिन दिन है छीजती।
होगा न जाति का हित, बिना बने जाति हित व्रत व्रती॥

३८—उल्लाला (आ)

लक्षण—प्रत्येक चरण में १३ मात्राएँ होती हैं।

उदाहरण—

अविरल होती वृष्टि थी, सृष्टि दृष्टि आती न थी।
भूरि भयानकता भरी, भूमि भूलि भाती न थी॥

३९—छप्पय

लक्षण—प्रथम ४ चरणों में रोला और अन्त के २ चरणों में उल्लाला रहता है। यह मिश्रित संयुक्त छन्द है तथा प्रायः वीरादि रसों के लिए अधिक उपयुक्त है।

उदाहरण—

(१) जग में अब भी गूँज रहे हैं गीत हमारे।
शौर्य, वीर्य, गुण हुए न अब भी हमसे न्यारे॥
रोम, मिश्र, चीनादि काँपते रहते सारे।
यूनानी तो अभी अभी हमसे हैं हारे॥
सब हमें जानते हैं सदा भारती हम हैं अभय।
फिर एक बार हे विश्व! तुम गाओ भारत की विजय॥

(२) जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं।
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं॥
परमहंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाये।
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाये॥
हम खेले कूदे हर्षयुत, जिनकी प्यारी गोद में।
हे मातृभूमि तुझको निरख मस्त क्यों न हों मोद में॥

४०—कुण्डलिया

लक्षण—शुरू में दोहा (१३+११=२४ मात्राएँ) फिर रोला छन्द (११+१३=२४ मात्राएँ) जोड़कर कुण्डलिया छन्द बनाया जाता है। दोहे के चौथे चरण को रोला के प्रारम्भ में रखते हैं। हिन्दी में गिरधर कविराय की कुण्डलियाँ प्रसिद्ध हैं, यों तुलसीदास और केशव ने भी लिखा है।

उदाहरण—

(१) मेरी भवबाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जातन की झाँईं परे, श्याम हरित दुति होय॥
श्याम हरित दुति होय, कटै सब कलुष कलेशा।
मिटै चित्त को भरम, रहै नहि कछुक अंदेसा॥
कह पठान सुलतान, काटु यम दुःख की बेरी।
राधा बाधा हरहु, हहा बिनती सुनु मेरी॥

(२) दौलत पाय न कीजिये सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को ठाँउ न रहत निदान॥
ठाँउ न रहत निदान जियत जग में जस लीजै।
मीठे वचन सुनाय, विनय सबही की कीजै॥
कह गिरिधर कविराय, अरे यह सब घर तौलत।
पाहुन निसिदिन चारि रहत सबही के दौलत॥

४१—तोमर

प्रत्येक चरण में १२ मात्राएँ होती हैं, अंत में गुरु और लघु होता है। यह छंद वीर रस के वर्णन में अधिक उपयोगी है।

उदाहरण—

।।।।। ऽऽ ऽ। ।। ।।। ।। ऽऽ।

(१) रिपु परम कोपे जानि। प्रभु धनुष सर संधानि॥
छाँड़ें त्रिपुल नाराच। लगे कटन विकट पिसाच॥

(२) तब चले बाण कराल। काँपती सेना विसाल॥
रुधिर से भू का भाल। रंग दीनो रंग लाल॥

(स) मुक्तक छन्द

इस प्रकार के छंदों के प्रत्येक चरण में केवल अक्षरों की संख्या की गणना की जाती है। मात्रा तथा वर्णों का कोई क्रम नहीं होता। सात भेद हैं, जिनमें प्रमुख दो हैं जो नीचे दिये जाते हैं।

४२—मनहरण

इसमें १६ और १५ वर्णों के विराम के साथ ३१ वर्ण होते हैं और अंत में गुरु होता है।

उदाहरण—

ऽऽ ।। ऽऽ।ऽऽ।। ऽ ऽऽ ऽऽ

(१) पीवै नित भंगै रहै प्रेतन के संगे ऐसे, १६ वर्ण
पूछतो को नंगे जो न गंगै सीस धरतो। १५ वर्ण

(२) उझकि उझकि पद कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहन छबै लगी।
हमको लिख्यो है कहाँ, हमको लिख्यो है कहाँ,
हमको लिख्यो है कहाँ, कहनि सबै लगी॥

४३—देवघनाक्षरी

इसमें ८, ८, ८ और ९ अक्षरों के विराम से ३३ वर्ण होते हैं और अंत में ३ वर्ण लघु होते हैं।

उदाहरण—

(१) झिल्ली झनकारै पिक, चातक पुकारै बन,
मोरनि गुहारै उठे, जुगनू चमकि चमकि।
घोर घन कारे भरि, धुरवा धुरारे धाम,
धूमनि मचावै नाचै, दामिनी दमकि दमकि॥

इन छंदों को कवित्त सवैया छन्द भी कहते हैं जिसका प्रयोग भक्ति-कालीन कवि तुलसीदास ने अपने ग्रंथ 'कवितावली' में किया तथा रीति-कालीन एवं आधुनिक काल के प्रारम्भिक कवियों की रचनाओं में इस छंद का साधारणतया प्रयोग मिलता है। जैसे—तुलसी, केशव, भूषण, मतिराम, पद्माकर, भारतेन्दु, हरिऔध, रत्नाकर, गोपालशरण सिंह, तथा नाथूराम 'शंकर' आदि। वस्तुतः यह छन्द चारण पद्धति का छंद है।

मात्रिक छन्द (सम)

४४—दिक्पाल

लक्षण—प्रत्येक चरण में १२-१२ के विराम से २४ मात्राएँ होती हैं। ५ वें और १७ वें स्थान पर लघु वर्ण होता है।

उदाहरण—

(१) प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना।
तू ही मचल रहा था मंसूर की रटन में॥
आखिर चमक पड़ा तू गाँधी की हड्डियों में।
मैं था तुझे समझता सुहराब पीलतन में।

—रामनरेश त्रिपाठी

(२) एक समय वह भी था प्यारी जब तू आती।
हर्ष हास्य आमोद मौज आनन्द बढ़ाती॥
होते घर-घर बन-बन मंगलाचार बधाई।
चाव-चाव से होती थी तेरी पहुनाई॥

(३) रे मान बात मेरी मायादि त्याग दीजै।
सब काम छाँड़ि मीता, इक राम नाम लीजै॥

इसका दूसरा नाम 'मृदुगति' भी है।

४५—रूपमाला

लक्षण—प्रत्येक चरण में १४-१० के विराम से २४ मात्राएँ होती हैं। अन्त में क्रमशः गुरु और लघु होना चाहिए।

उदाहरण—

(१) वेणु बीन मृदंग बाजत, दुन्दुभी बहुभेव।
भाँति भाँतिन होत मंगल, देव से नर देव॥

—केशवदास

(२) जोरि कर मुनि पाय पंकज करी दण्ड प्रणाम।
पूजिबे को कुसुम लावैं, लही आयसु राम॥

(३) जातु हौं बन बादिही गल बाँधिके बहुतन्त्र।
धामहीं किन जपत कामद, राम नाम सुमन्त्र॥

इसको 'मदन' नाम से भी पुकारा जाता है।

४६—काव्य

लक्षण—११-१३ मात्रा की यति से प्रत्येक चरणमें २४ मात्राएँ होती हैं। प्रत्येक चरण की ग्यारहवीं मात्रा लघु होनी चाहिए।

उदाहरण—

(१) ऊँचे-ऊँचे कलश, दूर ही सों भ्रात भ्राजत।
चन्द्र सूर की किरन, परै दुति-दुति चमकत॥

(२) राम कृष्ण गोविन्द, भजे पूजत सब आसा।
इहाँ प्रमोद लहन्त, अन्त बैकुण्ठ निवासा॥

४७—त्रिभंगी

लक्षण—प्रत्येक चरण में १०-८-८-६ के क्रम से ३२ मात्राएँ होती हैं और अन्त में गुरु (ऽ) परंतु जगण (। ऽ ।) वर्जित है। इसी को शुद्ध ध्वनि और हुल्लास छंद भी कहा गया है।

उदाहरण—

(१) सुर काज सँवारन, अधम उधारन, दैत्य निदारन टेक धरे।
प्रगटे गोकुल में हरि छिन छिन में, नन्द हिये में मोद भरे॥

(२) जब-जब धरि बीणा, प्रगट प्रवीना, बहु गुण लीना, सुख सीता।
पिय जियही रिझावै, दुःखनि भजावै, विविध बजावै गुणगीता॥

(३) क्षीरोदधि गंगा, विमल तरंगा, सलिल अभंगा सुख संगा।
भरि कंचन झारि, धार निकार, तृषा निवारी, हित चंगा॥

४८—अरिल्ल

लक्षण—११-१० पर यति के क्रम से प्रत्येक चरण में २१ मात्राएँ होती हैं, लेकिन यदि यति न हो तो दोष नहीं।

उदाहरण—

(१) अच्छा देखूँ मुझे छोड़कर तुम कहाँ,
जा सकते हो ? मैं भी आती हूँ वहीं।
जंगल सागर या पहाड़ पर तुम रहो,
तुम से आकर आज मिलूँगी मैं वहीं॥

(२) यह भी कोई हँसी है, कि रुखसत का लेके नाम,
सौ बार बैठे बैठे, हमें तुम रुला चले।

(द) मुक्त छन्द

इस प्रणाली के छंद का तात्पर्य है जिसमें न मात्रा का बंधन हो, न गण का, और न वर्ण का, बंधन है तो मात्र लय का। यह लय भी छन्द की लय से भिन्न एक प्रकार की स्वाभाविक लय होती है। इस छंद के चरण भाव-लय के अनुरूप कहीं छोटे, कहीं बड़े हो सकते हैं। सर्वप्रथम महाकवि 'निराला' ने इस प्रणाली में अपनी प्रसिद्ध कविता 'जूही की कली' रची थी। और आजकल तो प्रयोगवादी और नई कविता के कवियों का तो प्रिय और एक मात्र छन्द यही हो गया है। इसके आश्रय को पाकर यह छन्द-प्रणाली यथेष्ट फल-फूल रही है।

उदाहरण—

(१) विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी,
स्नेह स्वप्न मग्न अमल कोमल तनु तरुणी
जूही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में

(२) डाल कर परदा कुहासे का
यह शरद की साँझ दूलहन सी,
गांव के सिहरे सिवानों पर
पालकी से सहम कर उतरी।

(३) चाँदनी का जिस्म टूटा जा रहा है
चाहती शबनम
किसी अभिसारिका के मधु कलश में
मुँह छिपाना
रात के पिछले पहर तक
प्राण कितनी बेबसी है।

———

काव्य के गुण

गुण का अर्थ है विशेषता, दोष का अभाव, उत्तमता, आकर्षक अथवा शोभाकारी धर्म। काव्य शास्त्र में इसका तात्पर्य दोषाभाव अथवा काव्य की शोभा करने वाले धर्म से लिया जाता है। आचार्य भरत मुनि ने कहा है— "दोष विपर्यय ही गुण है।" मम्मट—"गुण रसरूप अंगी का धर्म और इसके उत्कर्ष का कारक होता है।" तथा आचार्य वामन कहते हैं कि—"गुण काव्य का शोभाकारक धर्म और आनन्दवर्द्धन रस के आश्रित रहने वाला धर्म है।" दण्डी ने गुण को भावात्मक समझकर काव्य शोभाकारी बताया है। आनन्दवर्द्धन और विश्वनाथ ने गुणों को। साश्रित माना है उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं। वास्तव में गुण को प्रतिष्ठित प्रदान करने वाले आचार्य वामन है।

भरत मुनि ने—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थ व्यक्ति, उदारता और कान्ति नामक दस गुणों का उल्लेख किया है। दण्डी ने भी दस ही गुण माने हैं लेकिन भरत के गिनाये कुछ गुणों जैसे समाधि, कान्ति आदि का अपना भिन्न अर्थ बताया है। वामन ने शब्द और अर्थ के आधार पर प्रत्येक गुण के दो भेद कहे हैं। इस प्रकार गुणों की संख्या बीस पहुँचती है। भोज ने भरत के बताये १० गुणों में १४ गुण और जोड़कर २४ की संख्या मानी है। वे गुण हैं-(१) ओजत्व, (२) प्रेयस, (३) सुशब्दता, (४) सूक्ष्मता, (५) गम्भीरता, (६) विस्तार, (७) संक्षेप, (८) सम्मितत्व, (९) भाविक, (१०) गति, (११) रीति, (१२) उक्ति, (१३) प्रौढ़ि, (१४) उदाहरण। इनके अतिरिक्त शब्द गुण, अर्थ गुण और प्रसंग गुण के आधार पर २४ गुण के उप

१—एत एव विपर्यस्ता गुणः काव्येषु कीर्तिता ।—भरतमुनि—नाट्यशास्त्र १७—९५

२२—काव्य शोभायाः कर्तारोधर्मागुणा ।—आचार्य वामन

भेद करके गुण की संख्या ७२ भोज ने मानी है। अग्नि पुराण में काव्य के महती छाया उत्पन्न करने वाले भावात्मक १६ गुण माने है (१) श्लेष (२) लालित्य (३) गाम्भीर्य (४) सुकुमार्य (५) औदार्य (६) सत्य (७) यौगबी (८) माधुर्य (६) संविधान (१०) कोमलता (११) उदारता (१२) प्रौढ़ि (१३) सामयिकत्व (१४) प्रसाद (१५) सौभाग्य (१६) यथासंख्य (१७) प्रशस्यता (१८) पाक (१६) राग इनमें से १--७ तक शब्द गुण ८--१३ तक अर्थ गुण और १४-१६ तक उभय गुण की कोटि में रखे जाते है। आचार्य कुन्तक ने औचित्य और सौभाग्य नामक अनिवार्य सामान्य गुण एवं माधुर्य प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक विशिष्ट गुण माने हैं। आनन्दवर्द्धन ने चित्त की ३ अवस्थायें मानी हैं, १ द्रुति २ क्षोप्ति और ३ व्यापकत्व। इसीके आधार पर क्रमशः माधुर्य ओज और प्रसाद तीन गुण माने हैं। वामन ने इन्हीं तीन गुणों में दसों गुणों का समावेश कर दिया है। मम्मट और विश्वनाथ ने भी प्रसाद माधुर्य और ओज गुण को मान्यता दी है जिसे हिन्दी के आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

अब हम संक्षेप में कतिपय प्रमुख गुणों के विषय में विचार व्यक्त करेंगे।

(१) श्लेष—इसका अर्थ है मेल जोल। भरत ने अनेक शब्दों, अर्थों और वर्णों के संघठन को और दण्डी ने गाढ़ बन्धता एवं रचना के संघठन को श्लेष कहा है। श्लेष गुण श्लेष अलंकार से भिन्न है।

(२) अर्थ व्यक्ति—दण्डी के अनुसार जहाँ अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति हो अर्थात् जब सम्पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति शब्दों और पदों के द्वारा हो जावे तब वहाँ यह गुण होता है।

(३) उदारता—इसका अर्थ है व्यापकता अथवा उत्कर्ष। इस गुण की अभिव्यक्ति के लिए मनोरम मंजुल विशेषणों का प्रयोग करना चाहिये जिससे प्रतिपाद्य अर्थ में उत्कर्ष की प्रतीति हो और उक्ति विशेष स्पष्ट हो जावे।

(४) समाधि—इसका अर्थ है मेल, जोड़, एकाग्रता। भरत के अनुसार समाधि किसी रचना का वह विशिष्ट अर्थ है जिसे प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति उप-

लब्ध करते है। दण्डी के अनुसार जहाँ लोक सीमा के अनुरोध से अन्य के धर्म का अन्यत्र आरोप किया जाता है वहाँ समाधि गुण होता है। २—मम्मट आदि ध्वनि सिद्धान्त के आचार्यों ने समाधि को स्वीकृति नहीं दी है। देव समाधि की अभिव्यक्ति यों तो दण्डी के अनुसार ही करते हैं लेकिन दोनों में एक विशेष अन्तर है कि दण्डी लोक सीमा का अनुरोध मानते जब कि देव लोक सीमा का उल्लंघन। इस प्रकार समाधि वह गुण है जो किसी धर्म के अन्य धर्मों में ठीक ढंग से आरोपित करे।

(५) समता—भरत के अनुसार जब रचना में कठिन अर्थ व्यर्थ अति चूर्णपद अधिक न हो तब यह गुण होता है। इसका अर्थ है समानता और तुल्यता।

(६) कान्ति—भरत के अनुसार वह गुण है जिसके द्वारा मन की और कर्ण विषयक अह्लाद प्राप्त हो। दण्डी कहते हैं कि इस गुण में लौकिक गुण का अतिक्रमण नहीं होता वरम् जगत की कमनीयता की अभिव्यक्ति होती है। वामन कान्ति गुण के शाब्दिक और आर्थिक कान्ति नाम से दो रूप मानते हैं। इस शब्द का तात्पर्य है आभा, कमनीयता, शोभा, दीप्ति, उज्ज्वलता।

(७) सुकुमारता—जब कर्ण कटु और पुरुष एवं कठोर वर्णों का त्याग तथा कोमल वर्ण की योजना के द्वारा सुकुमार भावना की अभिव्यक्ति होती है, तब यह गुण उत्पन्न होता है।

(८) प्रसाद—प्र+सद+घञ वर्णों से प्रसाद शब्द की व्युत्पति मानी गई हैं जिसका अर्थ है प्रसन्नता, प्रांजलता, स्वच्छता एवं सुस्पष्टता। भरत—"जिसमें

१—अभियुक्तैऽविशेषस्तु योऽर्थस्यै वोपलम्यते।
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते॥ नाट्य शास्त्र १७-१०१

२—अन्य धर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥—काव्यादर्श—१ : ९३

सरलता, सहजग्राह्यता और स्वच्छता हो।" दण्डी--"वह शब्द प्रयोग जिसके, कारण अर्थ सुनते या पढ़ते ही समझ में आ जावे।" (२) वामन—"जो ओज का विरोधी और शिथिलताजन्य हो। ध्वनिवादी आचार्यों का कथन है कि हृदय में भाव या अर्थ की व्याप्ति शीघ्र ही ऐसी हो जाती है जैसे सूखी लकड़ी में अग्नि अथवा साफ कपड़े में जल। हिन्दी के आचार्यों की मान्यता है कि प्रसाद गुण का निवास सरल, सहज और भावव्यंजक शब्दावली में तथा अर्थ की निर्मलता और रोचकता में होती है।

(६) ओज—इस गुण के कारण मन में ओज, तेज, प्रताप, दीप्ति उत्साह, वीरता, आवेश आदि भावों का जन्म होता है। ओज गुण की उत्पति के लिए वर्गों के शुरू और तृतीय वर्ण संयुक्ताक्षर होने चाहिये एवं टवर्ग तथा ब और 'स' अक्षर का साथ ही दीर्घ सकार का प्रयोग। यह गुण वीर रस, वीभत्स और रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त है। इस गुण के विषय में विभिन्न आचार्यों का मत नीचे दिया जाता है—

(ग) "समासयुक्त किन्तु श्रवण सुखद एवं अर्थ गाम्भीर्ययुक्त पदावली ओजमयी होती है"—भरतमुनि

(ख) "समास बहुला पदावली ओज गुण से युक्त होती है।"—दण्डी

(ग) "ओज के लिये संयुक्ताक्षरों का संयोजन और अर्थ की प्रौढ़ता आवश्यक है।"—वामन

(घ) ओज गुण चित के दीप्त करता है—ध्वनिवादी आचार्य

(१०) सरसता, शिष्टता, संस्कृतता. मिठास, रोचकता माधुर्य के पर्याय है। माधुर्य गुण के समावेशसे श्रुति माधुर्य समटस रहितता, उक्तिवैचित्र्य, आर्द्रता, चित्तद्रवण, भावमयता और आह्लाद जैसे भावों की निष्पति होती है। विभिन्न आचार्यों के मत इस गुण के विषय में इस प्रकार है :—

---

१ नाट्य शास्त्र—१७,६८

२ काव्या दर्श

"माधुर्य से श्रुतिमधुरता का तात्पर्य ग्रहण किया गया है।"—भरत मुनि।

(क) "माधुर्य का अर्थ है रसमयता।"—दण्डी।

(ख) "माधुर्य का अर्थ है समासराहित्य एवं उक्तिवैचित्र्य।"—वामन।

(ग) "माधुर्य सहृदयों को द्रवित करने वाला गुण है।"—ध्वनिवादी आचार्य।

(ङ) "माधुर्य में आह्लादकता और शृङ्गार रस में द्रवित करने की विशेषता भी है।"—मम्मट।

(च) "कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, ण, और र अक्षर एवं अनुस्वारयुक्त वर्ण माधुर्य को उत्पन्न करते हैं।"—विश्वनाथ।

यह गुण शृङ्गार, करुण और शान्त रस के लिये अनुकूल होता है।

काव्य के दोष

काव्य को उत्कर्षता प्रदान करने के लिये जिस प्रकार रस, ध्वनि, गुण, अलंकारादि की स्थिति आवश्यक होती है उसी प्रकार उसे दोष रहित होना भी अत्यन्त आवश्यक है। अनेक गुणों से युक्त होने पर भी एकाध दोष आ जाने पर कविता के वास्तविक आनन्द या रस की प्राप्ति में बाधा पहुँचती है। जिस किसी वस्तु के कारण कविता के मुख्य अर्थ को समझने में बाधा पहुँचती है अथवा उसके सौन्दर्य में कमी आ जावे उसे दोष कहते हैं। कविता और मधुरता का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है और मधुरता का तात्पर्य है रूप, रस, गुण से सम्पन्न सरसता से जो कि प्रत्येक कविता में अपेक्षित है। दोष का अर्थ है भूल, त्रुटि, हानि, या रोग, यह हानि तीन प्रकार से होती है :—

(१) काव्य के रस अथवा आनन्द की अनुभूति में विघ्न पड़ने से।

(२) रस की प्रतीति में विलम्ब, विघात और अवरोध के द्वारा।

(३) काव्य की श्रेष्ठता को नष्ट करने वाली किसी भी वस्तु के बीच में आ पड़ने से।

काव्य के दोषों के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत नीचे दिये जा रहे हैं :—

(१) दोष वह पदार्थ है जो मुख्य अर्थ का अपकर्ष करता है अर्थात रस की हानि करता है।—विश्वनाथ—साहित्य दर्पण (७)।

(२) गुण का विपर्यस्त रूप दोष है—भरत मुनि नाट्य शास्त्र (१७, ९५)।

(३) सत्कवि दोष का प्रयोग नहीं करते तथापि क्या ललना की आँखों में अंजन की कोई शोभा नहीं? क्या गौर और सुन्दर मस्तक पर दिठौने का कोई मूल्य नहीं? क्या गुण और दोष का वह सम्बन्ध नहीं जो चित्र और चौखटे का है? भामह—काव्यालंकार (१, ५४-५६)।

(४) कवि कौशल के बल से सभी दोष सीमा का उल्लंघन करके गुण बन जाते है।[१]—दण्डी—काव्यदर्श (३, १७६)।

(५) दोष के द्वारा उद्वेग उत्पन्न होता है।—[२] अग्नि पुराण (११;१)।

(६) दोष से काव्य सौन्दर्य की हानि होती है।—वमानाचार्य—काव्यालंकार सूत्र (२, १२)।

(७) दोष से मुख्य अर्थ का अपकर्ष होता है।—मम्मट।

(८) दूषण सहित कवित्त से इसी प्रकार बचना चाहिये जिस प्रकार कृतघ्न प्रभु से।—केशवदास।

वेदों और उपनिषदों में तो सत् और असत् का बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध बताया गया है बल्कि कहीं कहीं तो असत् से सत् की उत्पत्ति तक मानी गयी है।[३] इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी आचार्यों ने काव्य में दोष आना युक्ति संगत नहीं माना है यह दूसरी बात है कि दोष के कारण किसी ने रस का अपकर्ष तो किसी ने अर्थ की हानि तो किसी ने सौन्दर्य का नाश देखा हो।

विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो पूर्ण निर्दोषिता का गर्व कर सके। सत-रज-तम से बनी सृष्टि गुण-दोष दोनों का आगार है। पन्त जी कदाचित् इसीलिये पुकार पड़े थे—

"दीन दुर्बल है रे संसार, इसी से दया क्षमा और प्यार", दीनता व दुर्बलता दोष होते हुये भी मानवोचित गुणों के अस्तित्व के कारण हैं। इस प्रकार जब मनुष्य में ही दोष है तो उसकी कृतियाँ कैसे दोष-मुक्त हो सकती हैं। अलङ्कार, गुण, रीति, ध्वनि आदि के सम्बन्ध में भले ही भारतीय आचार्य

---

(१) उत्क्रम्य दोषगणनां गुण वीथी विगाहते—काव्यादर्श।

(२) उद्वेगजनको दोषः—अग्निपुराण।

(३) सतोबन्धुमसति निर्विन्दन—ऋगवेद १०, १२६।

असतोमासद्गमय—वृहदाराण्योपनिषद १, ३, २८।

असदेवमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्—छान्दोग्योपनिषद ६, २, १।

एक मत न रहे हों किन्तु काव्य में दोषों के निराकरण के सम्बन्ध में सभी एकमत रहे हैं। काव्य प्रकाशकार मम्मट ने तो स्पष्ट ही कहा है "तद् दोषो शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं, जो दोष-रहित तथा गुण-युक्त हों, अलङ्कार चाहे कभी-कभी न भी हो। आचार्य दण्डी की दृष्टि में छोटा-सा दोष भी क्षम्य नहीं है[१]। काव्य प्रदीप की भूमिका में श्री गोविन्द ने कहा है कि यदि काव्य में किसी प्रकार का दोष भी पाया जाता हो तो अलङ्कार आदि की उपस्थिति होते हुये भी आवश्यक साहित्यिक सौन्दर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती किन्तु इसके विरुद्ध अलङ्कारादि न भी हो तो भी दोष के अभाव में थोड़ा-बहुत सौन्दर्य तो मिल ही जावेगा। इसी मत का शब्दान्तर द्वारा अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती में व्याख्या की है—"एतद्दोषविहीनं श्रुति सुखं दीप्तरसं च यदि भवति तावता गुणान्तरैरलंकारैश्च हीनमपि काव्यं लक्षणयोग व्यभिचारीत्युक्तम।" भामह कुकवित्व को साक्षात मृत्यु की संज्ञा देते हैं—"कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृति-माहुर्मनीषिणः।" लांजीनस (Longinus) ने भी कहा है "Faults are not the less faults because they arise from the heedlessness of genius." लाञ्जीनस की व्याख्या करते हुये R. A. Scott James ने "The Making of Literature" में लिखा है "He (Longinus) warns us against bombast, puerility or affectation and the conceits of frigidity."

शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य की सृष्टि करते हैं, अतः दोनों काव्य में सर्वथा अभिन्न रहते हैं, तब भी ज्ञान और विश्लेषण के लिये उनकी सत्ता पृथक-पृथक ही समझी जाती है। अतः काव्य-दोष में वे शब्द-दोष और अर्थ-दोष के नाम से विभक्त हैं। काव्य में वाक्य का अर्थ समझने के पूर्व ही जब कोई शब्द खटकने लगता है तो वह शब्द दोष; जब उन शब्दों के

---

१. तदल्पमति नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथं च न।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ —दण्डी

सम्मिलित अर्थ समझने पर कोई बात खटकती है तो वहाँ अर्थ-दोष और तीसरे जब कहीं-कहीं काव्य में जिन भावों और रसों की व्यंजना रहती है उसमें एक-दूसरे का विरोध करने वाले भाव या रस जब उत्पन्न हो जाते हैं तो वहाँ रस-दोष माना जाता है। कुछ आचार्य वर्णन-दोष भी मानते हैं जिसमें कि शब्द-अर्थ-रस-दोष से भिन्न वर्णन की अव्यवस्था के कारण उत्पन्न होता है।

अब हम प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य काव्य दोषों का उल्लेख करेंगे।

(१) भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में दोषों की संख्या १० मानी है[१]—(क) **अगूढ़ या गूढ़ार्थ**—जिसमें घुमा फिराकर बात कही जावे, (ख) **अर्थहीन-असंबद्ध अर्थ**, (ग) **अर्थान्तर**—अवर्णनीय का वर्णन, (घ) **भिन्नार्थ** (Antiguity)—जहाँ अभीष्ट दूसरा अर्थ हो और कहा जाय भिन्न अर्थ, (ङ) **एकार्थ**—ऐसे पर्यायों का प्रयोग जिससे अर्थ की किंचित भिन्नता होती है, (च) **अभिलुप्तार्थ**—जब प्रत्येक पाद में वाक्यार्थ संक्षेपतः पूर्ण किया जाय, (छ) **न्यायापेत**—प्रमाणरहित रचना, (ज) **विषम**—छन्दयुता रचना, (झ) **विसंधि**—जिस रचना में सन्धिहीनता हो, (ञ) **शब्दहीन**—अशब्द योजना।

(२) दण्डी द्वारा गिनाये ११ दोष हैं—निरर्थक, विरुद्धार्थक, अभिन्नार्थक, संशययुक्त, अपेक्षित शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, असमवृत्त, सन्धिरहित, तथा स्थान, समय, कला, लोक-न्याय और आगम का विरोध।

(३) भामह ने ३ प्रकार के दोष माने है (१) सामान्य दोष, (२) वाणी दोष, (३) अन्य दोष। सामान्य दोष के अन्तर्गत नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्त और गूढ़ शब्द; (२) वाणी दोष के अन्तर्गत—श्रुतिदुष्ट, अर्थ दुष्ट, कल्पना दुष्ट और श्रुति कष्ट; एवं अन्य दोष के अन्तर्गत—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय,

---

१. अगूढ़मर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः—
भरतमुनि—काव्यशास्त्र १७, ८८।

अपक्रम शब्दहीन यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देश विरुद्ध, काल विरुद्ध, प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन, दृष्टान्तहीन ।

(४) आचार्य वामन ने शब्दगत और अर्थगत दो भेद दोषों के माने है जिनका आगे चल ४ रूपों में विभाजन किया है—पद दोष, वाक्य दोष, पदार्थ दोष और वाक्यार्थ दोष ।

(५) आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में ३ प्रकार के काव्य दोष बताये हैं, (क) रस दोष, (ख) शब्द दोष, (ग) अर्थ दोष । इनके अन्तर्गत दोषों की संख्या इस प्रकार हैं—१० रस दोष, ३७ शब्द दोष और २३ अर्थ दोष ।

(६) आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक में दोष के स्थान पर अनौचित्य शब्द का प्रयोग हुआ है ।

(७) डा० गुलाब राय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में दोषों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है[1] :—

प्रथम वर्ग—क्लिष्टत्व, अप्रतीतत्व, अप्रयुक्त दोष ।

द्वितीय वर्ग—अश्लीलत्व, और ग्राम्यत्व ।

तृतीय वर्ग—अधिकपदत्व तथा न्यूनपदत्व ।

चतुर्थ वर्ग—विपरीतत्व, और श्रुतिकटुत्व ।

पंचम वर्ग—च्युत संस्कृति ।

षष्ठ वर्ग—अभवन्मतसम्बन्ध, दूरान्वय, समाप्त पुनरात्त, त्यक्त पुनः स्वीकृत, तथा गर्भित दोषत्व ।

सप्तम वर्ग—अक्रमत्व तथा दुष्क्रमत्व ।

इनके अतिरिक्त कुछ दोष नित्य होते कुछ अनित्य अर्थात् जिनका समर्थन किसी प्रकार नहीं हो सकता । वे नित्य दोष और जिनका अन्य प्रकार से समर्थन किया जा सकता है अनित्य दोष कहलाते है । इस प्रकार दोषों की संख्या तो अनेक है किन्तु हम अब मुख्य दोषों का ही उल्लेख करेंगे ।

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन—गुलाबराय पृष्ठ २४१

शब्द-दोष अथवा पद-दोष

(१) अप्रतीतत्व—कवि कभी-कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग काव्य में करता है जिसका शास्त्र विशेष में पारिभाषिक अर्थ कुछ और होता है और साधारण बोलचाल में कुछ और, जिससे कि साधारण पाठक के लिये वे बाधक सिद्ध होते हैं। जैसे—

(१) "हैं प्रधान के तीन गुण व्याप्त विश्व में जौन।"

यहाँ प्रधान शब्द का अर्थ साधारण पाठक मुख्य लेगा जब कि सांख्यशास्त्र का यह पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ प्रकृति होता है।

(२) जग जीव जतीन की छूटी तटी।

यहाँ तटी का अर्थ है हठ योग की त्राटक मुद्रा। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग काव्य की बोधगम्यता में बाधक होता किन्तु सम्भव है जनता का शिक्षा-स्तर उठने पर यह दोष निरन्तर कम होता जाय।

(२) अक्रमत्व—जिस स्थान में जो शब्द रखा जाना चाहिये उसे उस स्थान पर न रखने से दोष होता है। जैसे—

"विश्व में लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी।"

यहाँ 'लीला' 'मानवी' का विशेष्य है जो कि उसके निकट नहीं है।

(३) अधिकपदत्व—जहाँ पर अनावश्यक शब्दों का प्रयोग हो कि उनमें से यदि कुछ को निकाल भी दिया जाय तो अर्थ और भाव में अन्तर न पड़े। जैसे—

(१) सुनु मातु भयी यह बात अनैसी।
जु करी सुत भर्तृ विनाशिनि जैसी॥

(२) लिपटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरन्द।

इन दोनों में 'जैसी' और 'पुहुप' शब्द अनावश्यक हैं, पराग पुष्प का ही होता है।

(४) न्यूनपदत्व—जहाँ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये जितने शब्दों की

आवश्यकता हो उससे कम शब्दों का प्रयोग किया जाय, जैसे—तुलसी का दोहा इसका सुन्दर उदाहरण है—

उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि।
प्रीत परिच्छा तिहुँन की वैर व्यतिक्रम जानि॥

इसमें एक आवश्यक शब्द 'रेखा' छूट गया जिसके अभाव में अर्थ-पूर्ति कठिन-सी हो जाती है।

"पानी पावक पवन प्रभु, ज्यौं असाधु त्यौं साधु।"

इसका अर्थ तो यह है कि पानी, पावक, पवन, प्रभु, साधु और असाधु दोनों के साथ समान व्यवहार करते हैं किन्तु पर्याप्त शब्दों के अभाव में अर्थ सरलता से नहीं निकल पाता।

(५) प्रतिकूल वर्ण—जहाँ इच्छित रस के प्रतिकूल वर्णों की योजना होती है, जैसे :—

झटकि चढ़ति उतरति अटा नैकु न थाकति देह।
भई रहति नट को बटा अटकी नागर नेह॥

उपर्युक्त शृङ्गार रसके दोहे में कोमल वर्णों की योजना के विपरीत टवर्ग प्रचुर पद योजना है जिससे रस बोध में नीरसता आ गयी है।

(६) हतवृत्त या छन्दोभंग—जब छन्द की मात्राओं या वर्णों की संख्या ठीक होने पर भी उसकी गति ठीक न हो अथवा किसी शब्द की बीच में ही यति पड़े तो हत वृत्तत्व अथवा छन्दो भंग दोष होता है। जैसे :—

(१) सरविस जैहैं छूट परै रोटी के लाले।
तब सब बिदा होयँगे बिस्कुट चाय के प्याले॥

यहाँ दूसरे चरण में यति भंग हैं।

(२) तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।

इसमें 'तमाल' शब्द के प्रथम अक्षर पर यति होती है।

(५) च्युत संस्कृति—व्याकरण विरुद्ध प्रयोग इसके अन्तर्गत माने गये हैं। यह ५ प्रकार का होता है; लिंग-दोष, वचन-दोष, कारक, सन्धि और प्रत्यय दोष। जैसे—

(१) मर्म वचन जब सीता बोला।
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥
(२) नभ में आप बिचरते हैं जो।
हरा धरा को करते हैं जो॥

(६) अप्रयुक्त—किसी शब्द का उसके प्रचलित अर्थ में प्रयोग न होकर अप्रचलित अर्थ प्रयोग होना। जैसे—

"पुत्र जन्म उत्सव समय स्पर्स कीन्ह बहु जाय।

यहाँ 'स्पर्स' शब्द का अर्थ 'दान देना' है किन्तु यह अर्थ प्रचलित नहीं है।

(७) असमर्थ—किसी शब्द के प्रयोग पर अभीष्ट अर्थ की प्रतीति न होना। जैसे—

'कुज हनन कामिनि करत'

यहाँ 'हनन्' का अर्थ 'गमन्' है और हन् धातु का अर्थ गति भी है किन्तु हनन् शब्द यहाँ पर इस अर्थ को लाने में असमर्थ है।

(८) निरर्थक—पाद-पूर्ति के लिये अनावश्यक शब्द का प्रयोग करना। जैसे—

सो हैं विचित्र छवि गोप समाज माँ ही।
गावै प्रवीन नट रंग थली यथा ही॥

यहाँ 'यथा ही' में 'ही' शब्द निरर्थक है। केवल पाद-पूर्ति के लिए है।

(९) अनुचितार्थ—जिस शब्द के प्रयोग से अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार हो। जैसे—

ह्वैके पशु सम यज्ञ में, अमर होहिं जगसूर।

इस पंक्ति में वीरों की तुलना पशु से की गई है जो कि अभीष्ट अर्थ नहीं देती; साथ ही युद्ध में शूरवीर स्वेच्छा से मृत्यु को गले लगाता है किन्तु यज्ञ का पशु-विवशता से।

(१०) निहितार्थ—जहाँ किसी शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग किया जाय। जैसे—

विषमय यह गोदावरी, अमृतन को फल देति।
केसव जीवन हार को दुख असेष हरि लेति॥

विष और जीवन का प्रयोग जल के अर्थ में हुआ है जोकि अप्रसिद्ध है, विशेष रूप से विष का अर्थ तो पानी प्रसिद्ध नहीं ही है।

(११) क्लिष्टत्व—ऐसे शब्द का प्रयोग करना जिसका अर्थ कठिनता से खुले। जैसे—

(१) अहि रिपु-पति-प्रिय सदन हैं मुख तेरो रमनीय।

इसका अर्थ है कि तेरा मुख कमल के समान रमणीय है। कमल के लिये रेखांकित शब्दों का प्रयोग हुआ है। अहि = सर्प; रिपु = शत्रु अर्थात गरुण के पति—विष्णु की प्रिय लक्ष्मी का निवास-स्थान कमल है।

(२) 'वेदि नखत ग्रह जोरि अरघकरि, सोई बनत अब खात'॥—सूर

रेखांकित शब्दों से तात्पर्य है विष का। अब देखिये इसका व्यक्तीकरण किस प्रकार कवि ने किया है—

वेद = ४ + नखत = नक्षत्र = २७ + ग्रह = ९ इनका योग हुआ ४० अब इसका अरध (अर्द्ध) करने पर हुआ बीस अर्थात् विष।

इस प्रकार का प्रयोग काव्य में चमत्कार भले ही उत्पन्न करे किन्तु साधारण पाठक के लिये ऐसे शब्द अगम हो जाते हैं।

(१२) श्रुति कटुत्व—शृङ्गार और करुण आदि कोमल रसों में कानों को अप्रिय लगने वाले शब्दों का प्रयोग।

(१) कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता।
पर क्या न विषयोत्कृष्टता लाती विचारोत्कृष्टता॥

(२) वेदने तू भी भली बनी

आ अभाव की एक आत्मजे और अदृष्टि जनी।
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचिस्तनी॥

यहाँ रेखांकित शब्द रस के देखते हुये कर्ण कटु है। ऐसे प्रयोग रौद्र,

वीर और वीभत्स रस के लिये उपयुक्त हैं, न कि शान्त, करुण और शृङ्गार के लिये। इसे दुःश्रवत्व शब्द दोष भी कहते हैं।

(१३) ग्राम्यत्व दोष—सुशिक्षित जन द्वारा जिन शब्दों का प्रयोग नहीं होता उनका काव्य में व्यवहार होना। जैसे—

"पड़े झटोले पै रहे नींद न आई राति।"

रेखांकित शब्द का अर्थ टूटी खाट है।

रघुनाथ के गाल गुलाल को रंग है।

गाल शब्द का अर्थ है कपोल।

(१४) नेयार्थ—असंगत लक्षणावृत्ति का होना। जैसे—

तेरे मुख ने चन्द्र के दई लगाय चपेट।

अर्थ है तेरे मुख की कान्ति चन्द्रमा से अधिक है किन्तु यह अर्थ लक्षणा से निकलता है और लक्षणा का प्रयोग रुढ़ि अथवा प्रयोजन से ही होता है और यहाँ दोनों ही नहीं हैं।

(१५) अविमृष्टविधेयांश—विधेय अर्थात् अभीष्ट अर्थ के अंश का प्रधानता से प्रतीत न होना।

मैं रामानुज हौं अरे ! गरज डरावत काहि॥

यहाँ रामानुज कहकर लक्ष्मण अपने को राम का छोटा भाई कहना चाहते हैं किन्तु सम्बन्धकारक षष्ठी विभक्ति का लोप होकर समास हो जाने से 'राम' पद की प्रधानता दब गयी है।

(१६) अस्थानस्थ पद और समास—पद अथवा समास का अयोग्य स्थान पर प्रयुक्त होना—

"मतिराम हरी चुरियाँ खरकैं"

अर्थ तो है कि मतिराम कवि कहता है कि हरी चूड़ियाँ खनकती हैं; पर अर्थ निकलता है कि राम ने मति हरी।

(१७) प्रसिद्धि त्याग—जो शब्द जिस अर्थ के लिए प्रसिद्ध हैं उसके विपरीत और विरुद्ध प्रयोग-दोष उत्पन्न करता है। जैसे—

"कूजि उठी चटकाली चहूँ दिसि फैल गयी नभ ऊपर लाली।"

चटकाली एक जाति की चिड़िया है और चिड़िया चहकती है, कूजती नहीं, मोर कूजता है।

"बस आनन्द के हँस साहस सों ससि की सी कली चिर कंठ लगाई"

यहाँ चन्द्रमा की कली का प्रयोग प्रसिद्ध नहीं है और कहीं देखा-सुना भी नहीं जाता।

(१८) अश्लीलत्व—अश्लील का अर्थ होता है श्रीहीन, अतएव क्रीड़ा व्यंजक, घृणा तथा अमंगल व्यंजक पद जहाँ होते हैं वहीं यह दोष माना जाता है। जैसे—

मिची आँख पिय की निरखि वायु दीन ततकाल।

घृणा व्यञ्जक 'वायु दीन' से अधोवायु का स्मरण हो जाता है।

हत्यारी है चितवन प्यारी तुम्हारी,
इसी ने तो है मेरा खून किया। अमंगलजनक

(१९) सन्दिग्धत्व—जिस शब्द के प्रयोग से वांछित और अवांछित दोनों अर्थ निकलें। जैसे—

"वंद्या पर करिये कृपा"

'वंद्या' का अर्थ 'वन्दनीय' तथा 'कैद की हुई' दोनों ही हैं।

(२०) समास पुनरोक्तता—वाक्य की समाप्ति में पहले के छूटे हुये विशेषण आदि जहाँ पर रख दिये जायें। जैसे—

ब्रह्मादि देव जब विनय कीन्ह।
तट छीर सिन्धु के परम दीन॥"

ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्य "सिन्धु के" पर समाप्त हो गया है किन्तु "परम दीन" द्वारा उसे पुनः उठाया गया है।

तिमिर पारावार में आलोक प्रतिमा है अकम्पित।
आज ज्वाला से बरसता क्यों मधुर घनसार सुरभित॥

इसमें 'सुरभित' विशेषण को आवश्यकता नहीं है क्योंकि घनसार (कपूर) तो सुरभित होता ही है।

(२१) कष्टार्थत्व—जहाँ किसी वाक्य का अर्थ समझने में कठिनाई पड़े। जैसे—

बरसत जल जिन किरन खैंचि दिनकर जहि घन यह।
यमुना सविता सुता मिली सुर सरिता सो वह॥
करत न को विश्वास कहो या व्यास वचन में।
मूढ़ मृगी समुझै न तऊ जल रवि किरनन में॥

अर्थात् सूर्य अपनी किरणों से खींचे हुये जल की वर्षा करता है न कि मेघ। यमुना भी सूर्य से जन्मी है और वही गंगा में मिलती है। व्यास के इन वचनों को कौन विश्वास नहीं करता अर्थात् जब वर्षा और यमुना सूर्य से ही जन्मे हैं तब सूर्य की किरणों में जल का होना निस्सन्देह है तथापि मूढ़ हिरनी को सूर्य की किरण में जल का होने का विश्वास नहीं होता। यहाँ पर मरीचिका को भ्रम समझना अप्रस्तुत अर्थ है और मुग्धा नायिका का नायक पर अविश्वास प्रस्तुत अर्थ है लेकिन दोनों ही अर्थ सर्वजन-सुगम नहीं है इसलिये यहाँ कष्टार्थत्व दोष है।

तारागण तापै तापै छौन कल हंसन के।
मुखा सु तापै तापै कदली की छवि है॥
केहरि सुता पै तापै कुन्दन को कुण्ड तापै।
लसति त्रिवेनी मनौ छवि ही कौ छबि है॥
नोने कवि कहे नेही नागर छबीले स्याम।
दरस तिहारें देत चारो फल सवि है॥
कनकलता पै तापै श्री फल सुतापै कवु।
कञ्ज युग तापै चन्द तापै लसो रवि है॥

उपर्युक्त पंक्तियों में राधा के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन है लेकिन सर्वसाधारण क्या विद्वज्जन के लिये भी जल्दी समझने में कठिनाई होगी।

अर्थ दोष

(१) अपुष्ट—ऐसे अर्थ का होना जिसके न होने पर भी अभीष्ट अर्थ की कोई क्षति नहीं होती। जैसे—

उदित विपुल नभ माहिं ससि अरी, छोड़ अब मान ॥

यहाँ पर आकाश का विशेषण विपुल अपुष्ट है। चन्द्रोदय ही मान मोचन का कारण हो सकता है। आकाश की विपुलता मान छोड़ने के कारण की पुष्टि नहीं करता।

(२) काल-दोष—इसी को अंग्रेजी में Anachronism कहते हैं—

पांडव की प्रतिमा सम लेखौ।
अर्जुन भीम महामति देखौ ॥ (रामचन्द्रिका)

राम के मुख से पांडवों का उल्लेख करवाना काल विरुद्ध है।

(३) देश-विरुद्ध दूषण—जो वस्तु जिस देश में न होती हो उसको वहाँ होने का चित्रण करना दोष है, जैसे केशव ने रामजन्द्रिका में विश्वामित्र के तपोवन में इलायची, लौंग, सुपाड़ी और केसर आदि का वर्णन किया है जब कि ये फल वहाँ नहीं होवे—

एला ललित लवंग संग पुंगीफल।
केसरी को देख बन करी ज्यो कंपत है।

(४) दुष्क्रमत्व—लोक अथवा शास्त्र-विरुद्ध क्रम जहाँ हो। जैसे—

'नृप ! मो को हय दीजिये अथवा मत्त-गजेन्द्र'

घोड़े से पहले हाथी माँगना चाहिये। विकल्प से जो वस्तु माँगी जाती है वह उत्तरोत्तर निम्न श्रेणी की होती है।

(५) पुनरुक्ति—एक शब्द अथवा वाक्य द्वारा अर्थ विशेष की प्रतीति हो जाने पर भी अर्थ वाले दूसरे शब्द अथवा वाक्य द्वारा उसी अर्थ का पुनः प्रतिपादन करना। जैसे—

सहसा कबहुँ न कीजिये, विपद मूल अविवेक।
आपुहि आवत सम्पदा, जहाँ होय सुविवेक ॥

पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में उसी बात का प्रतिपादन है कि सुविचार से ही सम्पदा मिलती है।

(६) व्याहत—किसी वस्तु का पहले महत्व दिखाकर फिर उसकी हीनता की सूचना देना। जैसे—

दानी दुनिया में बड़े, देत न धन जन हेत।

यहाँ पहले दानियों की महत्ता स्वीकार की गई फिर उनका तिरस्कार किया गया।

(७) प्रसिद्धि विरुद्ध—जो वस्तु जिस बात के लिये प्रसिद्ध हो उसके विपरीत उसका वर्णन करना। जैसे—

"हरि दौड़े रण में लिये कर में धन्वा बाण"

श्रीकृष्ण चक्र के लिये प्रसिद्ध हैं, धनुष बाण के लिये नहीं।

(८) विद्या विरुद्ध—जहाँ धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र आदि के विरुद्ध वर्णन किया जाय। जैसे—

"रद-छद सद नख-पद लगे कहे देत सब बात।"

यहाँ अधरों पर नख रजतों का होना कहा गया है जो कि कामशास्त्र के विरुद्ध है।

(९) सहचर भिन्न—उत्कृष्ट के साथ, निकृष्ट अथवा निकृष्ट के साथ उत्कृष्ट का वर्णन होना। जैसे—

गलित पयोधर कामिनी, सज्जन सम्पत्ति हीन।
दुर्जन के सनमान यह, हिय दाहक हैं तीन॥

यहाँ कामिनी और सज्जन के साथ दुर्जन का प्रयोग दोष है।

(१०) प्रकाशित विरुद्ध—जो अर्थ अभीष्ट हो वह न निकल कर उसके प्रतिकूल अर्थ निकले—

राज्यासन को लहहु नृप, तेरो जेष्ठ कुमार।

यह ऐसा प्रतीत होता है कि राजा की मृत्यु की कामना की गई हो, क्योंकि राजा के जीवितावस्था में तो ज्येष्ठ पुत्र को सिंहासन मिल नहीं सकता।

रस-दोष

रस, स्थायीभाव अथवा व्यभिचारी भावों का स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन न किया जाना रस-दोष है।

१—विभाव और अनुभावों की कष्ट-कल्पना से जहाँ रस की प्रतीति होती है वहाँ दोष है, जैसे कि काव्य प्रकाश में कहा है—

"कष्ट कल्पनयाव्यक्तिरनुभावविभावयोः।"

उदाहरणार्थ—

चहति न रति यह विगत मति चितहु न कित ठहराय।
विषम दसा याकी अहो कीजै कहा उपाय॥

यहाँ नायिका के विप्रलंभ का वर्णन है। 'रति न चहति' आदि अनुभावों द्वारा केवल वियोग ही नहीं सूचित होता बल्कि करुणा, भयानक और वीभत्स रस भी ज्ञात होता है, अतएव विरहिणी नायिका की प्रतीति कष्ट-कल्पना से होती है।

(२) स्वशब्दवाच्यत्व दोष—भाव जहाँ व्यंग न होकर उल्लिखित हो। जैसे—

कौशल्या क्या करती थी।
क्या कुछ धीरज धरती थी।

धीरज संचारी भाव व्यंग नहीं, उल्लिखित है।

(३) अकाण्ड छेदन—असमय में रस का भंग कर देना।

(४) अकाण्ड प्रथन—असमय में रस का वर्णन करना।

(५) अंग वर्णन—ऐसे रस का वर्णन करना जिससे प्रधान रस को कोई लाभ न हो।

(६) रस की पुनर्दीप्ति—किसी रस का परिपाक हो जाने पर पुनः उसी रस का वर्णन करना।

उपर्युक्त नं० ३, ४, ५, ६ के दोष प्रबन्ध काव्य में ही अधिकतर मिलते

है, साधारण पद्य में नहीं। इनके अतिरिक्त भी कई शब्द, अर्थ और रस-दोष होते हैं जिनका सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने अपने काव्य-शास्त्रों में उल्लेख किया हैं, किन्तु मैंने उन सबको न देकर थोड़े से का नामोल्लेख किया है। आज के काव्य में तो उपर्युक्त दोषों को खोजना मानो उस काव्य का अस्तित्व मिटा देना है क्योंकि आज तो प्राचीन काव्य शास्त्र के नियमों का यदि उल्लंघन नहीं तो पालन भी नहीं होता, ऐसी स्थिति में आज काव्य-दोष ही काव्य के गुण बन गये हैं क्योंकि यह प्रयोग का युग है, हर ओर केवल प्रगति और प्रयोग ही दृष्टि-गोचर होता है।

वर्णन दोष

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित मुख्य दोष हैं—

(१) प्रकृति विरोध—

विन्दुसार के परम पुण्य से उपजा श्यामल विश्व अशोक।
स्निग्ध सघन पल्लव के नीचे छाया चिर शीतल आलोक॥

यहाँ पल्लवों के नीचे प्रकाश का छाना प्रकृति विरुद्ध है क्योंकि पल्लवों के नीचे अन्धकार छाता है, आलोक नहीं।

(२) स्वभाव विरोध—

फाड़-फाड़ कर कुम्भ स्थल मदमस्त गजों की मर्दन कर।
दौड़ा, सिमटा, जमा, उड़ा पहुँचा दुश्मन की गर्दन पर॥

इसमें घोड़े की गति का वर्णन है जो स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता।

(३) भाव विरोध—

आँखों में था घन अंधकार पद तले बिखरे थे अग्नि खंड।
वह चलती थी अंगारों पर लेकर के जलते प्राण पिण्ड॥

इसमें कुणाल से तिरस्कृत होने पर तिष्यरक्षिता के मानसिक भाव और प्रतिशोध की भावना का उचित सामंजस्य नहीं चित्रित है।

(४) अर्थ विरोध—

लगी कामना के पत्तीदल करने मधुमय कलरव ।
लगी वासना की कलिकायें बिखराने मधु वैभव ।।

कलिका पुष्प की अविकसित अवस्था है। पुष्प सुरभिपूर्ण होता है कलिका नहीं ।

(५) पूर्वापर विरोध—

होती ही रहती क्षण-क्षण में शस्त्रों की भीषण झनकार ।
नभ मंडल में फूटा करते बाणों के उल्का अंगार ।।
शस्त्रों का था हुआ विसर्जन न्याय दया को कर आधार ।
भू पर नहीं किन्तु मन में भी बढ़ने लगा राज्य विस्तार ।।

यहाँ प्रथम दो पंक्तियों में शस्त्रों की झंकार का वर्णन फिर बाद भी दो पंक्तियों में न्याय दया का आश्रय लेकर शास्त्र का विसर्जन फिर पृथ्वी पर राज्य विस्तार । यहाँ पहले दो पंक्तियों का दूसरी दो पंक्तियों में विरोध है ।

इसी प्रकार के अनेक प्रकार के वर्णन दोष मिलते हैं जिनमें कतिपय का उल्लेख ऊपर कर दिया गया ।

श्रृंगार रस का रसराजत्व

कतिपय रसज्ञ साहित्य मनीषियों ने श्रृङ्गार रस को रसराज माना है । इस मत से अधिकांश साहित्यिक तथा साहित्यकार सहमत है । संस्कृत साहित्य के सफल कवि भवभूति ने "एको रस: करुण एव" कहकर करुण रस को ही प्रधानता दी है । भवभूति के उक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि नव-रसों के स्थान में केवल एक ही रस मानना चाहिए । अपितु उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि नवों रसों के अन्तर्गत यदि कोई रस प्रधान हो सकता है तो एक करुण रस ही है । इस दृष्टि से भवभूति के शब्दों में करुण रस को रस-राज मानना उपयुक्त ठहरता है । किन्तु यहाँ पर यह बात विचारणीय है कि भवभूति ने स्वयं करुण रस को रस-राज की उपाधि देने का प्रयास नहीं किया है । उनका लक्ष्य था करुण रस की उत्कृष्टता को प्रतिष्ठापित करना न कि उसके रस-राजत्व को सिद्ध करना ।

करुण रस की उत्कृष्टता स्वीकार करते हुए शृङ्गार रस को रस-राज की उपाधि देना अत्यन्त उपयुक्त एवं समीचीन प्रतीत होता है। रस-राज शब्द का अर्थ है रसों का राजा। नवों रसों का राजा वही रस हो सकता है। जिसका क्षेत्र विस्तृत हो तथा जिसमें अधिकाधिक रसों का अन्तर्भाव सम्भावित हो। शृङ्गार रस में उपर्युक्त दोनों तथ्यों का समावेश हो सकता है। स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव आदि रस की इन चारों अवस्थाओं की दृष्टि से शृङ्गार रस का क्षेत्र अन्य रसों की अपेक्षा अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है।

शृङ्गार रस में काम-वासना, प्रेम और सौन्दर्य इन तीन तत्वों का सन्निवेश रहता है। काम, प्रेम और सौन्दर्य में से प्रत्येक का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। संसार के समस्त प्राणी सौन्दर्य-प्रिय होते हैं। सौंदर्यानुभूति मानव-जीवन की निधि है। अतः शृङ्गार उन तत्वों पर आधारित है जिनकी सीमा किसी भी दशा में आबद्ध नहीं हो सकती। यही कारण है कि शृंगार का क्षेत्र अत्यन्त विकसित परिलक्षित होता है।

आलम्बन, आश्रय तथा उद्दीपन की दृष्टि से अन्य रसों की अपेक्षा शृङ्गार का क्षेत्र विस्तृत है। नायिका और नायक के भेदोपभेदों की संख्या साहित्य मर्मज्ञों ने अत्यधिक वर्णित की है। इसके अतिरिक्त उनके हाव-भाव और शारीरिक चेष्टाएं भी अगणित मानी गई हैं। शृंगार रस के जितने संचारी भाव हैं उतने अन्य रसों में किसी के नहीं हैं। इन्हीं दृष्टियों से साहित्य शिल्पियों ने शृङ्गार रस को रसराज माना है।

शृङ्गार रस को रसराज मानने का कारण और भी है। शृङ्गार रस के दो पक्ष हैं—१—संयोग २—वियोग। उपर्युक्त दोनों में नायक-नायिका की मनःस्थितियाँ साहित्य-शास्त्र में भिन्न-भिन्न रूपो में वर्णित की गई हैं। इस प्रकार इन दोनों पक्षों के होने से शृङ्गार का क्षेत्र अत्यन्त परिवर्धित हो गया है। संयोग और वियोग शृङ्गार में उद्भूत मनःस्थितियों का उल्लेख पूर्ववर्ती अध्यायों में किया जा चुका है अतएव यहाँ पर उनके परिगणन की आवश्यकता

नहीं है । अतः श्रृङ्गार को रसराज मानना अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है ।

भोजदेव ने 'श्रृङ्गार प्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की है जिसमें श्रृङ्गार के समस्त अवयवों और गुणों का वर्णन किया है । भोजदेव ने श्रृङ्गार रस को ही प्रमुखता प्रदान की है । उन्होंने श्रृङ्गार के विषय में कहा है :—

"श्रृंगारमेव रसनाद्रसमान नाम:"

अर्थात् समस्त रसों में श्रृङ्गार रस ही प्रमुख है ।

श्रृङ्गार रस इतना व्यापक है कि उसमें अधिकाधिक रसों का अन्तर्भाव हो जाता है । हास्य, अद्भुत और शान्त रस का श्रृंगार के संयोग पक्ष में तथा करुण और भयानक रस का अन्तर्भाव श्रृङ्गार के वियोग पक्ष में हो जाता है ।

किसी चन्द्रमुखी नायिका की मृदु-मस्कान तथा उल्लासपूर्ण हास संयोग श्रृंगार में उद्दीपन का कार्य करता है । अद्भुत रस का स्थायीभाव 'विस्मय' है । "पत्रा ही तिथि पाइहै" बिहारी के इस वाक्य के अनुसार चन्द्रमुखी कामिनी के देदीप्यमान मुख मण्डल को देखकर नायक के हृदय में चन्द्रमा का जो भ्रम होता है वह विस्मय मिश्रित है । अतः अद्भुत रस का भी अन्तर्भाव संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत हो जाता है ।

काम वासना की तृप्ति के अनन्तर नायक तथा नायिका के हृदय में कुछ देर तक के लिये काम-वासना प्रवृत्ति का आविर्भाव रहता है । उस काल में ऐन्द्रिक शैथिल्य के कारण शान्तरस का उदय होता है । अतः संयोग श्रृङ्गार के अन्तर्गत शान्तरस का भी अन्तर्भाव हो जाता है ।

उपर्युक्त दृष्टिकोणों से श्रृंगार को रसराज कहना अत्यन्त उपयुक्त एवं समीचीन है । वस्तुतः जिस रस में अधिकाधिक मनोभावों का दिग्दर्शन होता है तथा जिसमें अन्यान्य रसों को अपने में अन्तर्भूत कर लेने की क्षमता है वही रस रसराजत्व की उपाधि से विशिष्ट माना जा सकता है । श्रृङ्गार रस में उपर्युक्त दोनों गुणों का समावेश है । अतः सभी दृष्टि कोणों से उसे रसराज कहने में कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती ।